लोकप्रिय का अनुकूलन और लोक का विस्थापन

आधुनिक हिंदी रंगमंच का उदय

अमितेश कुमार



शाहजहाँ थियेटरिकल कम्पनी (1938) द्वारा मंचित 'नरसी मेहता' (पाँचवाँ दशक).

भारतीय रंगमंच का इतिहास बताता है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के नेतृत्व में शुरू हुआ आधुनिक हिंदी रंगमंच आगे चल कर शिथिल पड़ गया, जबकि लानत-मलामत के बावजूद पारसी रंगमंच की पहुँच बढ़ती चली गयी। सवाल यह है कि इसी बीच पारम्परिक रंगमंच / लोक रंगमंच की जिन शैलियों को हिंदी के बुद्धिजीवियों ने भ्रष्ट कहा था, क्या उनमें क्या कोई बदलाव हो रहा था? क्या उस दौर में इन शैलियों के तहत आधुनिक और सामयिक अभिव्यक्ति वास्तव में नहीं हो पा रही थी? हिंदी भाषा में राष्ट्रीय भावनाओं, नवजागरण की चेतना के प्रसार और हिंदी-प्रचार के उद्देश्य से रंगमंच जैसे एक लोकप्रिय माध्यम को अनुकूलित किया गया। इस पर औपनिवेशिक रंगमंच का प्रत्यक्ष प्रभाव है। क्या इस नवीन रंगमंच को हिंदी के व्यापक लोक से जोड़ने की पहल हुई? क्या इस प्रक्रिया की हिंदी रंगमंच के विकास में कोई भूमिका है? इस शोध-पत्र की पृष्ठभूमि में ये सभी सवाल हैं। इसमें यह देखने का प्रयास भी किया गया है कि आधुनिक हिंदी रंगमंच जिन विषयों पर नाटक कर रहा था और जिन मूल्यों को प्रोत्साहित कर रहा था, उन्हें उसी समय कहीं अधिक लोकप्रिय पारसी और पारम्परिक शैलियों का रंगमंच जगह दे रहा था या नहीं? यह अनुसंधान यह जानने का प्रयास भी करता है कि कैसे एक जन-माध्यम आभिजात्य निर्मिति बन जाता है। हिंदी रंगमंच से जुड़े आज के बहुत से प्रश्नों के जवाब इसी अतीत में छुपे हैं। यहाँ लोकप्रिय शब्द का आशय स्पष्ट कर देना पहले ज़रूरी है। लोकप्रिय शब्द का मतलब है जो लोक को प्रिय हो और यहाँ

लोक से आशय सामान्य अर्थ में व्यापक जनसामान्य से है जिसमें समाज के सभी समूह शामिल हैं। विशिष्ट अर्थ में इसका मतलब उस सबाल्टर्न समुदाय से है जो इतिहास और आलोचना में अरसे से हाशिये पर रहा है। साथ ही उसकी अभिव्यक्तियाँ भी हाशियाग्रस्त रही हैं। लोकप्रिय माध्यम से मेरा आशय एक ऐसे माध्यम से है जिसकी जनता तक पहुँच सबसे व्यापक हो और जनता के बीच जिसकी स्वीकार्यता भी अधिक हो।

औपनिवेशिक आधुनिकता का रंगमंच

जिस रंगमंच को हम आधुनिक भारतीय रंगमंच कहते हैं वह भारतीय रंगमंच की पूर्ववर्ती परम्पराओं से भिन्न है। उसका उद्‌गम औपनिवेशिक रंगमंच की उस परम्परा में है जिसकी शुरुआत अंग्रेज़ों के आने के बाद हुई थी। भारत में मुख्य रंगमंचीय परम्पराएँ दो थीं : एक संस्कृत की और दूसरी परम्पराशील रंगमंच की। संस्कृत रंगमंच का अवसान हज़ारवीं सदी के आस-पास हो चुका था, लेकिन परम्पराशील रंगमंच अपनी गति से भारत के विविध क्षेत्रों में गतिशील बना हुआ था। समुदाय और कृषि-सभ्यता का अभिन्न अंग बन चुके इस रंगमंच में दर्शक और अभिनेता का भेद नहीं था। दर्शक ही अभिनेता और अभिनेता ही दर्शक होते थे। नाटकीय संरचना अस्थिर थी, और खेल रात भर चलते थे। संस्कृत रंगमंच की बहुत सारी विशेषताओं, जैसे सूत्रधार, भरत वाक्य, शास्त्रीय गति संचालन, विदूषक, नांदी पाठ, पूर्वरंग इत्यादि, को परम्पराशील रंगमंच ने आत्मसात् कर लिया था, फिर भी व्यापक समझ यह थी कि संस्कृत रंगमंच और परम्पराशील रंगमंच में कोई मेल नहीं है। संस्कृत रंगमंच पर उच्च-संस्कृति की और परम्पराशील रंगमंच पर निम्न-संस्कृति की मुहर लग चुकी थी। संस्कृत रंगमंच दरबार, अभिजात वर्ग और उच्च वर्ण से जुड़ी हुई शास्त्रीय परम्परा के रूप में ग्रहण किया जाता था, जबकि परम्पराशील रंगमंच जनसमुदाय की गतिविधि थी। लोक-रंगमंच नामकरण के पीछे भी इसे पिछड़ा मान लेने की मानसिकता थी। इसके कर्ता अधिकतर समाज के निम्न-वर्ग से सबंध रखते थे। भारत में जब आधुनिक रंगमंच बंगाल में बांग्ला में, महाराष्ट्र में मराठी में और बनारस में हिंदी में शुरू हुआ तो उसका निकटवर्ती रिश्ता आधुनिक अंग्रेज़ी रंगमंच से ही था। साथ ही यह बंगाल, पश्चिमोत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में लोकप्रिय नाट्य रूपों यात्रा, तमाशा, नौटंकी, ख़याल, नाच इत्यादि से दूरी भी बनाए हुए था।[1]

अंग्रेज़ों ने भारत में आगमन के साथ ही अपने रहन-सहन के तौर-तरीक़े भी विकसित करना शुरू किया। इसी लिहाज़ से प्रशासनिक संरचना बनाई गयी, वैचारिक संस्थानों का निर्माण हुआ और सांस्कृतिक व्यवहारों में परिवर्तन को एक सुधारवादी प्रेरणा के साथ स्थापित किया गया।[2] इस प्रक्रिया के लिए कलकत्ता औपनिवेशिक लंदन की तरह था।[3] रंगमंच चूँकि उनके जीवन-व्यवहार में स्थान

---

[1] बांग्ला में पश्चिमी शैली के रंगमंच का पहला प्रयास गेरासिम स्तेपानोविच लेबडेफ़ (1749-1817) ने 1795 में किया. भाषाविद् गोलोकनाथ दास की सहायता से एम. जोगरेल के *डिसगाइज़* और मौलियर के *लव इज़ द बेस्ट डॉक्टर* का बांग्ला में मंचन हुआ. इस नाटक की भाषा में बांग्ला के साथ हिंदुस्तानी का भी मिश्रण था। इसमें गीत एवं संगीत का भी मिश्रण किया गया था. लेकिन यह जात्रा से भिन्न प्रस्तुति थी. देखें, सुदीप्त चटर्जी (2007), *द कोलिनियल स्टेज्ड; थियेटर इन कोलोनियल कैलकटा,* सीगल बुक्स, कोलकाता : 36. राजा सांगली ने भावे को नया नाट्य रूप इसलिए तैयार करने को कहा था ताकि सभ्य उच्चवर्णीय समाज का मनोरंजन हो सके. तमाशा में निम्न जाति के लोग काम करते थे और यह एकमात्र नाट्य परम्परा थी जिसमें स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं इसलिए इसे निम्न श्रेणी का माना जाता था और उच्चवर्ग के लिए यह त्याज्य था. इसे संरक्षण देने के बजाय उन्होंने शिष्ट समाज के लिए मनोरंजन का नया रूप गढ़ने को प्रोत्साहित किया. शांता गोखले (2000), *प्लेराइट एट द सेंटर,* सीगल बुक्स, कोलकाता : 5-6.

[2] के.एम. पणिक्कर (2007), *कोलोनियलिज़म : कल्चर ऐंड रेज़िस्टेंस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 3.

[3] सुदीप्त चटर्जी, वही :17.

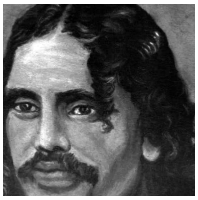


1916 में हिंदी नाट्य परिषद, कलकत्ता के सदस्यों का एक सामूहिक चित्र।
फ़ोटो : महेश आनंद के सौजन्य से

रखता था इसलिए उन्होंने रंगमंच को भी विकसित करना शुरू किया। अंग्रेज़ों की प्रेरणा और प्रभाव से आधुनिक रंगमंच सबसे पहले कलकत्ता और बम्बई में शुरू हुआ। धीरे-धीरे इसके अनुसरण और अनुकरण से देसी भाषा का आधुनिक रंगमंच भी प्रारम्भ हो गया। कोलकाता में लेबडेफ़ द्वारा खेला गया नाटक हो या बम्बई में राजा सांगली के यहाँ खेला गया नाटक, दोनों का प्रेरक स्रोत आधुनिक अंग्रेज़ी रंगमंच ही था।

अंग्रेज़ी शिक्षा की शुरुआत के बाद अंग्रेज़ी भाषा और युरोप के साहित्य से भारतीयों के एक तबक़े का परिचय बढ़ा। शेक्सपियर को भी पाठ्यक्रम में शामिल किया गया था। शेक्सपियर की रचनाओं ने हमारे आधुनिक रंगमंच को बहुत तरीक़ों से प्रभावित किया जिसमें नाट्यलेखन भी शामिल था। शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद लगभग सभी भाषाओं में हुए और उनके आधुनिक रंगमंच के साथ-साथ इन नाटकों को पारसी रंगमंच पर भी खेला गया।[4] औपनिवेशिक काल में प्राच्यविदों द्वारा संस्कृत नाटकों की खोज से संस्कृत की समृद्ध नाट्यपरम्परा की ओर भारतीय रंगमंच का ध्यान गया। अपने समृद्ध अतीत के गौरव से जुड़ने की और उसे संरक्षित करने की भावना जगी। संस्कृत नाट्यलेखन की संरचना का भी अनुकरण किया जाना लगा क्योंकि इसमें भारतीयता का भाव निहित था जो तत्कालीन विकसित हो रही राष्ट्रवादी प्रवृत्ति को भी पुष्ट कर रहा था। भारतीय रंगमंच की एक अन्य परम्परा लोकनाट्यों की थी जिसका मतलब था खुला मंच इंप्रोवाइज़ेशन और लगभग अलिखित पाठ

[4] आधुनिक हिंदी के प्रणेता भारतेंदु ने अपने नाट्य लेखन की शुरुआत अनुवाद से की थी. इस क्रम में उन्होंने शेक्सपियर के नाटक *मर्चेंट ऑफ़ वेनिस* का अनुवाद *दुर्लभ बंधु* के नाम से किया था. इसमें पात्रों के नामों का भारतीयकरण कर दिया गया था. भारतेंदु मण्डल के सदस्य लाला श्रीनिवास दास ने *रोमियो जूलियट* का अनुवाद *रणधीर प्रेममोहिनी* नाम से किया था. शेक्सपियर के प्रभाव के व्यापक विश्लेषण के लिए देखें, नंदी भाटिया (2004), *एक्ट्स ऑफ़ अथॉरिटी / एक्ट्स ऑफ़ रेज़िस्टेंस; थियेटर ऐंड पॉलिटिक्स इन कोलोनियल ऐंड पोस्टकोलोनियल इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 62-68. पारसी रंगमंच पर भी शेक्सपियर के नाटकों का ख़ूब अनुवाद हुआ. आगा हश्र कश्मीरी ने *हैमेलेट* का अनुवाद *ख़ूने नाहक* के नाम से किया. नारायण प्रसाद बेताब ने भी शेक्सपियर के नाटकों का रूपांतरण किया. उन्होंने *शेक्सपियर* नाम से बाक़ायदा एक पत्रिका भी निकाली. देखें, विद्यावती नम्र (1972), *हिंदी रंगमंच और पं. नारायण प्रसाद बेताब,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी : 116 और हेमेंद्र नाथ दासगुप्ता (1955), *द इण्डियन स्टेज,* मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली :200. दासगुप्ता लिखते हैं कि पुणे में किसी कॉलेज में 1872 में युवकों ने शेक्सपियर के नाटक *मर्चेंट ऑफ़ वेनिस* का मंचन किया था.



भारतेंदु ने रंगमंच के इतिहास को खँगाला और सिद्धांत-निर्मिति का प्रयास किया। ... वे नाटक के इतिहास से परम्पराशील रंगमंच के नाटकों को पहले ही बाहर कर देते हैं।

पर आधारित रंगमंच। इसमें नाट्यप्रदर्शन का कार्य-व्यापार एक समय में बँधा नहीं था। इसका संरक्षण और पीढ़ीगत हस्तांतरण वाचिक परम्परा से हो रहा था। अंग्रेज़ी नाटकों और संस्कृत नाटकों के इस सम्मिलित प्रभाव से नाटक की परिभाषा बदली। नाटक का मतलब हो गया लिखित व प्रकाशित नाटक, जिनका पाठ स्थिर हो और जिनका मंचन किया जा सके।[5] प्रिंट के आगमन से नाटकों के व्यापक प्रकाशन की सुविधा मिल चुकी थी जिससे उनका प्रसार भी हो रहा था। सभी भाषाओं में संस्कृत और अंग्रेज़ी भाषा के नाटक अनूदित हो कर छपने लगे थे। प्रिंट के प्रभाव में नौटंकी जैसे लोक-रूप की रचनाएँ भी प्रकाशित होने लगी थीं।

इस तरह औपनिवेशिकता के प्रभाव से भारत में एक नितांत भिन्न रंगमंच का आविर्भाव हुआ जिसकी जड़ें भारतीय रंगमंच के निकट अतीत में नहीं थी। इससे नाट्यलेखन, प्रस्तुति और देखने की एक नयी शैली प्रचलन में आयी। अब प्रदर्शन का मतलब हो गया लिखित या छपे हुए नाट्यपाठ को प्रोसेनियम मंच पर अभिनेताओं द्वारा खेला जाना। नाटक देखने का शुल्क लगने लगा, इसे अब केवल सामने से देखा जा सकता था, दर्शक और अभिनेता के बीच एक आभासी दीवार आ गयी। रंगमंच अब सामुदायिक नहीं रह गया, जिसमें दर्शक और अभिनेता एक ही समुदाय के अंग होते थे। अब रंगकर्म पेशेवर होने की ओर अग्रसर हुआ। परम्पराशील रंगमंच में नाटक रात भर चलते थे, वहीं आधुनिक प्रदर्शनों की समय-सीमा निश्चित हो गयी। देखने की एक नयी संस्कृति का प्रचलन शुरू हुआ जो अनुशासनबद्ध थी।

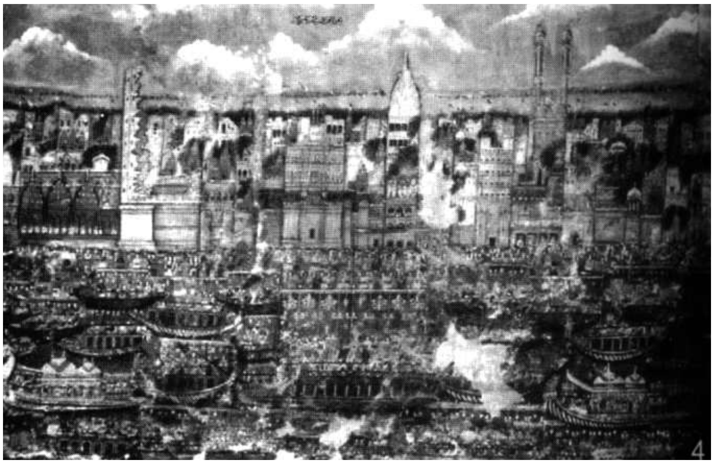
भारत में इस नवीन आधुनिक रंगमंच का कर्ता यहाँ का अभिजात और अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त वर्ग था जो आधुनिकता के सम्पर्क में आ कर अपने और अपने समाज को आधुनिक बनाने के लिए प्रतिबद्ध हो चुका था। इस क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण परिघटना थी मैकाले की नीतियाँ। मैकाले के शिक्षा संबंधी परामर्शों का उद्देश्य ही था कि अंग्रेज़ी शासन व्यवस्था के अंग बनने में भारतीय सक्षम हो कर अंग्रेज़ी शासन के अनुकूल अनुशासित हो जाएँ। शिक्षा और अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आने से भारत में नये तरह की मध्यवर्गीय अभिजात बौद्धिक श्रेणी का उदय हुआ। यह मध्य वर्ग ऐतिहासिकता और संरचना में युरोपीय मध्य वर्ग से भिन्न था।[6] यह अंग्रेज़ और भारतीय जनता के बीच का वर्ग था। अंग्रेज़ी शिक्षा और आधुनिकता के प्रभाव के कारण इस वर्ग को अपने समाज के पिछड़ेपन और अधीनता का बोध हुआ।[7] समाज सुधार, जनजागरण और शासन से अपने अधिकारों की माँग का

---

[5] शांता गोखले, वही : 12.

[6] 1880 के दशक तक अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त भारतीयों की कुल संख्या 50,000 के लगभग होने वाली थी। अंग्रेज़ी पढ़ने वालों की संख्या जो 1887 में 2,98,000 थी 1907 में बढ़ कर 5,05,000 हो गयी जबकि अंग्रेज़ी समाचारपत्रों का प्रसार 1885 के 90,000 से बढ़ कर 1905 में 2,76,000 हो गया था. इस उभरते हुए सामाजिक समूह को जो महत्त्व प्राप्त था वह इसके आकार की तुलना में बहुत अधिक था. सुमित सरकार (2009), *आधुनिक भारत* (अनु. सुशीला डोभाल), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 84.

[7] सुधीर चंद्र ने अपनी रचना द *आप्रेसिव प्रज़ेंट* में भारतेंदु और उनके मण्डल के अन्य लेखकों और कतिपय अन्य भारतीय लेखकों के हवाले से बताया है कि शिक्षित हो जाने के बाद उन्हें अपने पिछड़ेपन का बोध हुआ और अंग्रेज़ी प्रशासन की मदद से इन्हें अपना पिछड़ापन दूर करने की प्रेरणा मिली. इस प्रक्रिया में राजभक्ति और देशभक्ति का द्वंद्व उभरा. जो इस दौर के रचनाकारों की रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित होता है. देखें, सुधीर चंद्र (1992), द *आप्रेसिव प्रज़ेंट : लिटरेचर ऐंड सोशल कांशसनेस इन कोलोनियल इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.



भारतेंदुकालीन उत्सव बुढ़वा मंगल का नौका-यात्रा दृश्य. इस चर्चित उत्सव से तत्कालीन बनारस के कला-प्रेम की एक बानगी मिलती है. उत्सव में राजघाट से अस्सी तक अनगिनत सजी-धजी नौकाएँ होती थीं जिन पर भांड, नर्तकियाँ, और गायक अपनी कला का प्रदर्शन करते थे.
फ़ोटो : महेश आनंद के सौजन्य से

ज़िम्मा इस वर्ग ने अपने ऊपर ले लिया। भारतीय समाज के इतिहास में अब तक लगभग अनुपस्थित यह वर्ग एक तरह का सत्ता केंद्र भी था जो एक मायने में एक तरफ़ अधीन लेकिन दूसरी तरफ़ प्रभावशाली भी था।[8] इस वर्ग ने पश्चिम के विचारों और औपनिवेशिक आधुनिकता से प्रेरित सांस्कृतिक रुचि और संवेदना निर्मित करने की कोशिश की।[9] मध्यवर्ग अपने विचारों को भाषणों और सार्वजनिक सभा के ज़रिये जनसाधारण तक पहुँचाने की कोशिश करते हुए उसने महसूस किया कि मनोरंजन की लपेट में बात आसानी से दर्शकों के हृदय में उतर जाती है।[10] उस समय तक रंगमंच ही मनोरंजन का ऐसा जन-माध्यम था जिससे एक साथ अधिक लोगों तक बात पहुँचाई जा सकती थी। अख़बार, पत्र-पत्रिका इत्यादि की पहुँच शिक्षित वर्ग तक सीमित था।

मध्यवर्ग ने लोकप्रिय माध्यमों की पहचान की और रंगमंच को चुना ताकि अपनी बात जनता तक पहुँचाई जा सके। इसके बाद इन माध्यमों को अपनी संवेदना के अनुसार अनुकूलित और परिष्कृत करने की प्रक्रिया शुरू की। पहले कभी इन्हीं कलाओं को अश्लील मान कर कहा गया था कि समाज पर इन कलाओं का नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। लेकिन बाद में इनकी प्रभावकारिता पहचानते हुए सचेत रूप से अश्लीलता, क्षेत्रीय पहचान, स्थानीयता इत्यादि के चिह्नों को हटा कर इनकी संरचना को समय और स्थान से मुक्त कर इन माध्यमों का सामान्यीकरण कर दिया गया।[11] रंगमंच के विकास के साथ-साथ भी यह प्रक्रिया अपनाई गयी। रंगमंच के देशज रूप को अलग करके पाश्चात्य शिल्प के अनुसार आधुनिक रंगमंच निर्मित हुआ। इस प्रक्रिया की परिणति समरूपी (होमोजेनस) आधुनिक रंगमंच के उभरने में हुई। यानी आधुनिक भारतीय रंगमंच भाषा के स्तर पर ही एक दूसरे से अलग रह गया, स्वरूप के स्तर पर नहीं। उसका एक मानक निर्धारित हो गया जिसका सभी भारतीय भाषाई रंगमंचों में अनुकरण हुआ। आधुनिक होने के लिए इस स्वरूप को अपनाना अनिवार्य था। भारतीय

---

[8] पार्थ चटर्जी (1993), *द नेशन ऐंड इट्स फ्रैग्मेंट्स : कोलोनियल ऐंड पोस्टकोलोनियल हिस्ट्रीज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 73.

[9] पणिक्कर, वही : 23.

[10] और इसने उतारा भी था. इसकी शक्ति देखते हुए ही अंग्रेज़ी शासन ने 1876 में ड्रैमेटिक परफॉर्मेंस एक्ट लागू किया था. *नील दर्पण* और *कीचक वध* जैसे नाटकों को प्रतिबंधित भी किया गया था क्योंकि ये अंग्रेज़ी शासन को अपने ख़िलाफ़ लगे थे. देखें, नंदी भाटिया : वही.

[11] पार्थ चटर्जी, वही : 72.

भारतेंदु मण्डल के सदस्य बदरी नारायण प्रेमघन ने भी अपने निबंध 'दृश्य रूपक व नाटक' में लिखा है कि अंग्रेज़ों के आगमन से ही नाटक विधा का प्रचलन शुरू हुआ क्योंकि इन्हीं के संपर्क में आने से इन क्षेत्रों के लोगों का नाटक से परिचय हुआ।

समाज में आधुनिकता के प्रभाव से राष्ट्रीय इयत्ता के निर्माण और नवीन युग में जाने के लिए सामाजिक पिछड़ेपन से पीछा छुड़ाने की मुहिम चली हुई थी। पुरानी समाज-व्यवस्था से जुड़ी हुई चीज़ों को पुराना और पिछड़ा घोषित करने की प्रक्रिया में परम्पराशील रंगमंच को भी मध्ययुगीन मानते हुए पिछड़ा मान कर छोड़ दिया गया। आधुनिकता की प्रक्रिया ने विविधता की सम्भावना को क्षीण कर दिया। पारम्परिक रंगमंच की शैलीगत-क्षेत्रगत विविधता की गुंजाइश नहीं रही। चूँकि आधुनिक रंगमंच का कर्ता सम्भ्रात, शहरी, मध्यवर्ग था इसलिए आधुनिक रंगमंच को उच्च कला और उच्च संस्कृति का भी दर्जा मिला।

सुरुचिसम्पन्न और आर्यशिष्टजनोपयोगी आधुनिक हिंदी रंगमंच

अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में अंग्रेज़ों के क़दम काशी में पड़े जो हिंदी की सार्वजनिक गतिविधियों के केंद्र में थी। धीरे-धीरे ब्रिटिश संस्थाओं और स्थानीय निवासियों का आपसी सम्पर्क बढ़ा और बनारस में भी एक मध्यवर्ग निर्मित हुआ। सार्वजनिक गतिविधियों का नेतृत्व इसी नये मध्यवर्ग के हाथ में जाने लगा जो आधुनिक और राष्ट्रवादी होने की प्रक्रिया में था।[12] भारतेंदु हरिश्चंद्र इसी मध्यवर्ग के प्रतिनिधि थे। सार्वजनिक जीवन की शुरुआत से ही वे बनारस की सार्वजनिक गतिविधियों और सार्वजनिक संस्थाओं से जुड़ चुके थे। अपने अल्प-जीवन में उन्होंने यात्राएँ भी बहुत कीं जिनके कारण बाकी देश से उनका परिचय घनिष्ठ हो गया। समकालीन माहौल देख कर उन्हें भी इसके पिछड़ेपन और जड़ता का बोध हुआ। उनके साहित्य-लेखन का उद्देश्य इस जड़ जनता को जगाना ही था।[13] अपने उद्देश्यों के प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं के साथ-साथ नाटक का विशेष रूप से सहारा लिया। उन्होंने नाटक लिखे, उसमें अभिनय किया और दूसरों को ऐसा करने के लिए प्रेरित भी किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'नाटक अथवा दृश्यकाव्य' जैसा बृहद निबंध लिख कर रंगमंच के इतिहास को खँगाला और सिद्धांत-निर्मिति का प्रयास किया। इस निबंध में भारतेंदु लिखते हैं कि 'हिंदी भाषा में वास्तविक नाटक के आकार में ग्रंथ की सृष्टि हुए पच्चीस वर्ष से विशेष नहीं हुए।'[14] ऐसा कहते हुए वे नाटक के इतिहास से परम्पराशील रंगमंच के नाटकों को पहले ही बाहर कर देते हैं। उसके बाद कतिपय नाटकों और नाटककारों की चर्चा के बाद अपने पिता श्री कविवर गिरिधर दास के नाटक *नहुष* को हिंदी में पहला नाटक मानते हैं।[15] अपने पिता के नाटक के बारे में भारतेंदु ने लिखा है कि 'मेरे पिता ने बिना अंग्रेज़ी की शिक्षा पाए इधर क्यों दृष्टि दी यह बात आश्चर्य की नहीं।'[16] पिता को भले ही अंग्रेज़ी की शिक्षा नहीं मिली थी लेकिन भारतेंदु को मिली थी। वे क्वींस कॉलेज के छात्र थे

---

[12] वसुधा डालमिया (2010), *द नैशनलाइजेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशंस,* पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत : 145-149.

[13] रामविलास शर्मा (2004), *भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

[14] भारतेंदु हरिश्चंद्र (1883), 'नाटक अथवा दृश्य काव्य', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़* भाग-एक, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय : 67.

[15] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार भारतेंदु के पहले महाराज विश्वनाथ सिंह के *आनंद रघुनंदन* को छोड़ कर किसी में नाटकत्व शेष न था. रामचंद्र शुक्ल (2010), *हिंदी साहित्य का इतिहास,* लोकभारती, इलाहाबाद : 310.

[16] वही.



हिंदी के पहले मंचित नाटक 'जानकी मंगल' के प्रदर्शन के आसपास 1868 में लिया गया चित्र. प्रस्तुति के आयोजक महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह (बैठे हुए प्रथम) और बाएँ से पहले भारतेंदु (खड़े हुए). फ़ोटो : महेश आनंद के सौजन्य से

और उन्होंने एक अंग्रेज़ी स्कूल भी खोला था।[17] भारतेंदु हिंदी में पहला मंचित नाटक *जानकी मंगल* को घोषित करते हुए क्षोभ प्रकट करते हैं कि 'पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलने वाला कोई आर्य शिष्टजन का नाटक समाज नहीं है।'[18] पारसी नाटकों से भारतेंदु को क्षोभ था ही। *शकुंतला* नाटक के पारसी शैली में मंचन के दौरान दुष्यंत को खेमेटेवालियों की तरह नाचते देख कर नाटक छोड़ कर बाहर आ जाने का वर्णन भी उन्होंने दुख के साथ किया है।[19] इसी निबंध में वे युरोप के नाटक के बारे में लिखते हैं जिससे युरोपीय रंग-परम्परा के उनके अध्ययन का पता चलता है। ग़ौरतलब है कि भारतेंदु ने जब यह लेख लिखा तब तक वे अपने सभी नाटक लिख चुके थे।[20] भारतेंदु का आदर्श संस्कृत, युरोप और बांग्ला का रंगमंच था। जैसा कि इस निबंध में पता चलता है या उनके द्वारा अनूदित नाटकों की सूची में भी देखा जा सकता है। उन्होंने इन्हीं आदर्शों की स्थापना करते हुए हिंदी का आधुनिक रंगमंच विकसित करने की मुहिम चलाई। इस प्रक्रिया में बहुत से लोग उनके साथ जुड़े। भारतेंदु के इस निबंध से दो साल पहले उनके मण्डल के सदस्य बदरी नारायण प्रेमघन ने भी अपने निबंध 'दृश्य रूपक व नाटक' में लिखा है कि अंग्रेज़ों के आगमन से ही नाटक विधा का प्रचलन शुरू हुआ क्योंकि इन्हीं के संपर्क में आने से इन क्षेत्रों के लोगों का नाटक से परिचय हुआ।[21]

अपने निबंध में भारतेंदु कहीं भी पारम्परिक रंगमंच के नाटकों की चर्चा नहीं करते। नाटकों के व्याकरण की चर्चा में भी इन नाटकों का उल्लेख नहीं है। इतिहास-खण्ड में वे संस्कृत नाटकों की सूची देते हैं और भाषा-नाटकों के इतिहास में भी उन प्रकाशित नाटकों का उल्लेख करते हैं जो संस्कृत और अंग्रेज़ी के अनुवाद हैं या उनके आधार पर लिखे गये हैं। जिनके विकास का काल वह केवल

---

[17] प्रेमचंद (1913), 'भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग-2, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 14.

[18] भारतेंदु हरिश्चंद्र (1883) : 69.

[19] भारतेंदु हरिश्चंद्र (1883) : 68.

[20] जैसा कि भारतेंदु के निबंध में दी गयी तालिका से पता चलता है.

[21] 'परंतु यवनों के कृपा से दश वर्ष पूर्व यहाँ इसे यह भी नहीं जानते थे कि किस जानवर का नाम है, केवल संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वानों की गणना हम नहीं करते परंतु उन्हें भी अभिनय अर्थात् तमाशा देखने के आनंद का ज्ञान न था, पर अब धीरे धीरे कलकत्ता और बंबई के बंगाली और पारसी लोगों तथा गुजराती और महाराष्ट्र ने भी इसका आरम्भ किया.' देखें, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन (1881), 'दृश्य-रूपक अथवा नाटक', *रंग दस्तावेज़,* भाग-1 : 39.

माधव शुक्ल नाटकों को 'हिंदी प्रचार का सर्वाधिक सशक्त माध्यम तो मानते ही थे, साथ ही राजनीति और समाज सुधार का अमोघ साधन भी।' राष्ट्रभक्ति उनके नाट्यकर्म की मूल प्रेरणा थी।

25 वर्ष मानते हैं।[22] सम्भव है कि भारतेंदु को उतने साक्ष्य न मिल पाए हों लेकिन भाषा-नाटकों की परम्परा इससे बहुत पहले से मिलती है। तत्कालीन बनारस में ही पारम्परिक नाटकों का प्रदर्शन[23] के साथ-साथ प्रकाशन[24] भी होता था। *इंदरसभा* (अवध) और *गोपिचंदाख्यान* (बंबई) का मंचन हो चुका था। झाँसी के दरबार और बनारस में भी रंगमंच के कई रूप प्रचालित थे।

भारतेंदु ने 'नाटक' निबंध में नाटक के तीन भेद किये थे : शुद्ध कौतुक, काव्यमिश्र, और भ्रष्ट। भ्रष्ट नाटकों में उन्होंने भाँड, लीला और झाँकी के अलावा यात्रा, रास, इंद्रसभा, पारसियों के नाटक और महाराष्ट्र के खेल को भी रखा था।[25] भारतेंदु ने अपने बलिया-भाषण में हिदायत भी की थी कि *इंदरसभा* और मसनवी पढ़ा कर लड़कों को मत बिगाड़िए।'[26] साफ़ है कि भारतेंदु परम्पराशील रंगमंच की लोकप्रियता और उसके असर से वाकिफ़ थे। इसलिए वे सचेत रूप से इन शैली के छप चुके नाटकों (यदि छपा हुआ नाटक उनकी कसौटी में है तो) को भी सूची में नहीं रखते। लेकिन भारतेंदु यह भी लिखते हैं कि 'नाटकों का अभिनय सहृदय जनों के समाज को प्रीति देने वाला, देश की कुचालों को सुधारने वाला और कुशल करने वाला है।'[27] इसलिए वे इस कला का व्यापक हित के लिए उपयोग करना चाहते हैं। वे लोकप्रिय कला को परिष्कृत करते हैं ताकि हिंदी प्रदेश में एक आर्यशिष्टजनोपयोगी रंगमंच स्थापित हो जो साहित्यिक और सुरुचिपूर्ण हो। इस कसौटी पर पारम्परिक लोकप्रिय कलाएँ उनके लिए खरी नहीं थी इसलिए उन्हें आधुनिक मूल्यों की ख़राद पर घिसना ज़रूरी था।

भारतेंदु के व्यक्तिगत प्रयास ने कई लोगों को नाटक लिखने और खेलने के लिए प्रेरित किया। उनके इर्द-गिर्द एक घेरा बन गया जिसे भारतेंदु मण्डल के नाम से जाना जाता है।[28] यह मण्डल उच्चवर्णीय था और इसे आभिजात्य संरक्षण भी प्राप्त था।[29] इस युग के रंगमंच का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक-राजनीतिक दशा का यथार्थ अंकित करके सर्वसाधारण को जागरूक बनाना था। भारतेंदु अपनी रचना *अँधेर नगरी* में वे पतनशील भारतीय समाज का चित्रण करते हैं जिसमें पेशेवर आधार

---

[22] भारतेंदु हरिश्चंद्र (1883) : 67.

[23] महेश आनंद (1978), 'भारतेंदु युगीन हिंदी रंगमंच', नेमिचंद्र जैन (सम्पा.), *आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच*, मैक्मिलन, नयी दिल्ली : 51.

[24] कैथरिन हैन्सन ने अपने लेख में उल्लेख किया है कि 1868 और 1885 के बीच छपे सात स्वाँग ब्रिटिश संग्रहालय में संरक्षित है. कैथरिन हैन्सन (1989), द *बर्थ ऑफ़ ड्रामा इन बनारस*, सैंड्रिया बी. फ्रेटेग (सम्पा.), *कल्चर ऐंड पॉवर इन बनारस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 65.

[25] भारतेंदु हरिश्चंद्र (1883) : 48

[26] भारतेंदु हरिश्चंद्र (2004) *भारत दुर्दशा : संवेदना और शिल्प*, सिद्धनाथ कुमार (सम्पा.), अनुपम प्रकाशन, पटना : 48.

[27] महेश आनंद (1978) : 52.

[28] भारतेंदु के व्यक्तिगत प्रभाव ने बनारस में अम्बिकादत्त व्यास, किशोरीलाल गोस्वामी और राधाचरण दास को, कानपुर में प्रताप नारायण मिश्र को, आगरा में काशीनाथ खत्री को, इलाहाबाद में बालकृष्ण भट्ट को और बिहार में केशवराम भट्ट को रंगमंच में सक्रिय होने की प्रेरणा दी. यह एक घेरा सा बन गया जिसमें ये एक दूसरे के नाटक की प्रस्तुति करते थे, प्रदर्शन करते थे और प्रदर्शनों की अपनी पत्रिकाओं में समीक्षा करते थे. इन्हें स्थानीय आभिजात्य समुदाय का संरक्षण भी प्राप्त हुआ था. हेनसेन (1989) : 83.

[29] वही.



बनारस के सैनिक क्षेत्र में स्थित पुराना नाच घर जिसे थियेटर रॉयल या बनारस थियेटर भी कहा जाता है. 'जानकी मंगल' का मंचन यहीं हुआ था.

फ़ोटो : महेश आनंद के सौजन्य से

पर बँटे हुए समाज के अधिकतर वर्ग एवं जाति शामिल हैं।[30] वे कहते हैं कि इस देस में अंधाधुंध मचा हुआ है क्योंकि राजा विदेश में रहता है।[31] अपने सबसे पहले राजनीतिक नाटक *भारत दुर्दशा* में वे सभी क्षेत्रों में व्याप्त पतनशीलता से विचलित हैं।[32] उनका कहना है कि भारत को अंधकार, मदिरा, रोग, पाप, सत्यानाश और भारत दुर्दैव के सम्मिलित हमलों ने पस्त कर दिया है। बौद्धिक वर्ग एजुकेशन की सेना, अख़बारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले से भारत दुर्दैव का सामना करना चाहता है लेकिन डिसलॉयल्टी उन्हें आक्रांत किये हुए है।[33] 'भारत-भाग्य' निराश होकर आत्महत्या कर लेता है क्योंकि भारत को अब भाग्य के सहारे नहीं कर्म के सहारे खड़े होना है। 'अंग्रेज़ी राज और पश्चिमी विधा के सूर्य' से इस भारत को जगना है।[34] तात्पर्य यह कि भारतेंदु अपने नाटकों के ज़रिये जनता को जागरूक कर एक नवीन समाज के निर्माण की चेतना तैयार करना चाहते थे। अपनी पत्रिकाओं और निबंधों में वे इस उद्देश्य का विस्तार करते नज़र आते हैं। भारतेंदु की प्रेरणा से लिख रहे उनके मण्डल के नाटककारों ने भी राष्ट्रवादी और समाज सुधार की चेतना से युक्त लेखन करते हुए भारतेंदु के स्वर में स्वर मिलाया।[35] इस चेतना की एक प्रेरणा पश्चिम विधा का सूर्य है। ग़ौरतलब यह है कि 'भ्रष्ट' और 'नाटकत्व से हीन' क़रार देने के बावजूद भारतेंदु के नाटक पारसी और पारम्परिक रंगमंच के प्रभाव से बच नहीं पाते। स्वाभाविक ही है क्योंकि आधुनिक संरचनाएँ समाज में एकदम से नहीं आ जातीं

---

[30] *अँधेर नगरी* का बाज़ार का दृश्य संदर्भित हैं जहाँ सब कुछ टके सेर में बिकाऊ है. भारतेंदु हरिश्चंद्र (2005), *अँधेर नगरी* , सिद्धनाथ कुमार, वही.

[31] अँधेर नगरी : 77.

[32] *अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥ भारत दुर्दशा* : 54.

[33] वही : 68-69.

[34] वही : 77.

[35] प्रताप नारायण मिश्र ने भी भारतेंदु के अनुकरण पर *भारत दुर्दशा* नाम का नाटक लिखा था. इसके अतिरिक्त इन्होंने *गो संकट* और *कलिप्रभाव* नाम का नाटक लिखा था जो समाज सुधार से ही जुड़ा था. बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन ने *भारत सौभाग्य* नाम का नाटक लिखा था. लाला श्रीनिवासदास ने *रोमियो और जूलियट* की तर्ज पर *रणधीर प्रेममोहिनी* लिखा था. इस युग में प्रचुर नाटक लिखे गये लेकिन रंगमंच पर भारतेंदु के नाटकों के अतिरिक्त लाला श्रीनिवासदास का *रणधीर प्रेममोहिनी,* अम्बिकादत्त व्यास का *गो संकट* और देवकी नंदन त्रिपाठी का *जयनार सिंह* इस युग में बार बार खेले गये. देखें, रामचंद्र शुक्ल (2010) : 310-30.



प्रसाद भारतेंदु की तरह रंगकर्मी नहीं थे और उस समय पारसी रंगमंच के परिवेश और हिंदी की नाट्य मण्डलियों की संसाधनहीनता में प्रसाद के रंगमंच के व्यावहारिक परीक्षण की जगह नहीं थी।

और न ही वे अपने पूर्ववर्ती रूप से सर्वथा भिन्न होती है। बहुत से मायनों में वे पूर्ववर्ती रूपों के नये व्यवहारगत प्रयोग के रूप में आती हैं।[36] लेकिन इन्हें इस रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। भारतेंदु अपने नाट्य सिद्धांतों में पारसी और लोक-रंगमंच से जो दूरी बनाते हैं वह धीर-धीरे बढ़ती जाती है।

भारतेंदु के निधन के बाद उनका समूह धीरे-धीरे बिखर गया और उनमें से अधिकांश कविता और उपन्यास की ओर उन्मुख हुए। यह वही समय था जब हिंदी साहित्य में महावीर प्रसाद द्विवेदी का उद्भव हुआ। उन्होंने हिंदी भाषा के आंदोलन को संचालित किया और दिशा दी। इस समय साहित्य की अन्य विधाओं को भी समर्थ बनाने का अभियान चल रहा था। 'इस युग के साहित्यिक उन्नायक आचार्य द्विवेदी के आतंक के कारण अनाधिकारी लेखक हिम्मत हार बैठे। परिणामस्वरूप उस कूड़े-कचरे की बाढ़ रुक गयी जो नाटक साहित्य के नाम पर हिंदी के कलेवर को मलिन बना रहा था।'[37] भारतेंदु के बाद हिंदी रंगमंच में उनके कामों को आगे ले जाने का उल्लेखनीय प्रयास पण्डित माधव शुक्ल ने किया। वे भी भारतेंदु की तरह अभिनेता, नाटककार और संगठनकर्ता थे। उन्होंने अपने प्रयासों से हिंदी की तीन महत्त्वपूर्ण अव्यावसायिक नाट्य मण्डलियाँ प्रयाग और कलकता में बनाईं।[38] माधव शुक्ल नाटकों को 'हिंदी प्रचार का सर्वाधिक सशक्त माध्यम तो मानते ही थे, साथ ही राजनीति और समाज सुधार का अमोघ साधन भी।'[39] राष्ट्रभक्ति उनके नाट्यकर्म की मूल प्रेरक थी। रंगमंच से ही उन्होंने अंग्रेज़ी शासन की आलोचना करने का साहस किया। अपने रंगकर्म को समकालीन राजनीतिक चेतना से युक्त कर जनता को जागरूक करने की उनकी कोशिशों के कारण ही उनके खेले गये नाटकों में से *महाराणा प्रताप* (राधाकृष्ण दास), *महाभारत नाटक पूर्वार्ध* (पण्डित माधव शुक्ल) और *मेवाड़ पतन* (द्विजेंद्र लाल राय) को अंग्रेज़ी सरकार ने ज़ब्त कर लिया था। यह दौर अंग्रेज़ सरकार द्वारा अभिव्यक्तियों पर लगाम लगाने का भी था। रंगमंच के माध्यम से राजद्रोह फैलने के भय से 1876 में ड्रैमेटिक पर्फ़ार्मेंस एक्ट लागू किया गया था। प्रेस एक्ट भी इसी दौर में लागू किया गया। माधव शुक्ल कांग्रेस की रैडिकल नीतियों से प्रभावित थे। वे मंच से भी अपनी राजनीतिक अभिव्यक्ति करने का ख़तरा उठाते थे जिसका ख़ामियाजा भी उन्हें भुगतना पड़ता था। *महाराणा प्रताप* के प्रदर्शन में 'जय जय श्री तिलकदेव भारत

---

[36] सुदीप्त कविराज (2005), 'ऐन आउटलाइन ऑफ़ अ रिवीज़निस्ट थियरी ऑफ़ मार्डनिटी', *आर्काइव्ज़ ऑफ़ युरोपियन सोसियोलॅजी,* XLVI, 3 : 517.

[37] *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारणी सभा, खण्ड 9 : 34. आचार्य द्विवेदी ने *नाटयशास्त्र* नाम की पुस्तिका में नाट्यलेखन संबंधी ऐसे निर्देश जारी किये कि कुछ लोग ही इस क्षेत्र में टिक पाए.

[38] 1898 में प्रयाग में रामलीला नाटक मण्डली जो उन्होंने पं बालकृष्ण भट्ट के पुत्र महादेव भट्ट और पण्डित गोपाल दत्त त्रिपाठी के साथ बनाई थी. *सीता स्वयंवर* इस मण्डली द्वारा अभिनीत प्रथम नाटक था, जो अत्यंत लोकप्रिय हुआ. 1907 में इस मण्डली के बिखर जाने के बाद हिंदी नाट्य समिति की स्थापना की. कलकत्ता चले जाने के बाद वहाँ हिंदी नाट्य परिषद की स्थापना की और कई नाटक खेले. ज्ञानचंद जैन (1981), 'हिंदी रंगमंच को पं. माधव शुक्ल की देन', *छायानट,* अंक 18 : 3-7

[39] 1898 में प्रयाग में रामलीला नाटक मण्डली जो उन्होंने पं बालकृष्ण भट्ट के पुत्र महादेव भट्ट और पण्डित गोपाल दत्त त्रिपाठी के साथ बनाई थी. 'सीता स्वयंवर' इस मण्डली द्वारा अभिनीत प्रथम नाटक था, जो अत्यंत लोकप्रिय हुआ. 1907 में इस मण्डली के बिखर जाने के बाद हिंदी नाट्य समिति की स्थापना की. कलकत्ता चले जाने के बाद वहाँ हिंदी नाट्य परिषद की स्थापना की और कई नाटक खेले. ज्ञानचंद जैन (1981), 'हिंदी रंगमंच को पं. माधव शुक्ल की देन', *छायानट,* अंक 18.



पारसी थियेटर की नयी मण्डलियों में से एक न्यू अल्फ्रेड कम्पनी मंचित राधेश्याम कथावाचक का नाटक 'श्रीकृष्णावतार' में कंस वध का दृश्य. फ़ोटो : महेश आनंद के सौजन्य से

हितकारी' गीत जोड़ने पर उन्हें अंग्रेज़ी सत्ता की दमन नीति का शिकार होना पड़ा और वे इलाहाबाद छोड़ने के लिए विवश हुए।[40] इस युग की अन्य मण्डलियाँ भी अपने नाट्य प्रयोगों के द्वारा यथासम्भव राष्ट्रीय प्रचार-प्रसार का कोई अवसर नहीं चूकती थीं।[41] संस्कृतनिष्ठ हिंदी और राष्ट्रीय भावना को ये मण्डलियाँ अपनी तरह से प्रसारित कर रही थीं। इन मण्डलियों के संचालक और अभिनेता भी नव-शिक्षित और नये बन रहे मध्यवर्ग के प्रतिनिधि थे। इनके दर्शकों का अधिकतर हिस्सा भी यहीं से आता था। इन मण्डलियों की स्थापना का लक्ष्य भी 'सुरुचिसम्पन्न साहित्यिक' रंगमंच को विस्तार देने का था। पारसी रंगमंच के समांतर इस साहित्यिक रंगकर्म को बहुत से मोर्चों पर जूझना पड़ रहा था। संसाधन, नाट्यशालाओं का अभाव, कुशल अभिनेता, ड्रैमेटिक परफोर्मेंस एक्ट और पारसी रंगमंच के दबाव में यह मण्डलियाँ असमय कालकवलित होती रहीं। पारसी रंगमंच से कुछ अलग करने के प्रयास के बावजूद इन मण्डलियों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव भी था। इसी समय नाटक-लेखन के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का आगमन हुआ।

महेश आनंद लिखते हैं कि 'बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में जयशंकर प्रसाद के नाटकों से हिंदी नाटक-लेखन के एक नये अध्याय की शुरुआत होती है और उनके निबंधों से एक नयी रंग-दृष्टि से परिचय मिलता है। नाटक-लेखन में उन्होंने ऐतिहासिक शोध के भीतर से जीवंत मानव की संघर्ष-यात्रा के अनेक पड़ावों का अंकन किया है। अपने निबंधों में उन्होंने हिंदी रंगमंच की जातीय पहचान पाने के लिए प्रेरणा दी, एक ऐसा रंगमंच जो भारतीय संदर्भों में शास्त्रीय, पारम्परिक और पश्चिमी नाट्य-व्यवहार और तत्त्वों के मेल से भारतीय नाट्यधर्मी शैली को एक नया मुहावरा रेखांकित करे।'[42] यह मुहावरा संस्कृत की नाट्यधर्मी शैली की ओर अधिक उन्मुख था। प्रसाद के नाटकों या निबंध में व्यक्त विचारों में यह देखने को नहीं मिलता कि इसमें पारम्परिक रंगमंच का कोई प्रत्यक्ष या

---

[40] महेश आनंद (2007), 'नाट्य प्रदर्शन अधिनियम 1876 और रंगमंच', महेश आनंद (सम्पा.), *रंग दस्तावेज़, भाग-2,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली :235, और *हिंदी साहित्य का इतिहास,* नागरी प्रचारणी सभा, खण्ड 9 : 52

[41] ये मण्डलियाँ थीं काशी की नागरी नाटक मण्डली तथा भारतेंदु नाट्य समाज, जबलपुर के सप्तम हिंदी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर स्थापित नाट्य समिति, आरा का मनोरंजन नाटक मण्डल, मुज़फ़्फ़रपुर की नवयुवक समिति और बालोपकारिणी समिति छपरा की शारदा नवयुवक समिति आदि, वही : 48.

[42] महेश आनंद (2003), 'नाटककार की भूमिका : जयशंकर प्रसाद', *रंग प्रसंग,* वर्ष 6, अंक 1 जून, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 196.

प्रसाद ने जीवंत रंगमंच के अभाव में अपने मानस में एक आदर्श रंगमंच की रचना कर उसके अनुकूल नाटक लिखे। इनमें मंचन सबंधी जटिलता है लेकिन *ध्रुवस्वामिनी* तक वे रंगमंच की व्यावहारिकता के क़रीब आते गये। उन्हें पारसी रंग-विधान का भी सहारा लेना पड़ा।

सायास मिश्रण कराने की कोशिश की गयी थी। प्रसाद भारतेंदु की तरह रंगकर्मी नहीं थे और उस समय पारसी रंगमंच के परिवेश और हिंदी की नाट्य मण्डलियों की संसाधनहीनता में प्रसाद के रंगमंच के व्यावहारिक परीक्षण की जगह नहीं थी। प्रसाद ने अपने निबंधों में रंगमंच का ऐतिहासिक और सामयिक विवेचन कर हिंदी रंगमंच को एक दिशा देने की कोशिश ज़रूर की। प्रसाद ने अपने निबंधों में यह चिंता जताई कि 'हिंदी का कोई अच्छा रंगमंच नहीं है और उसको उत्तेजित करने के लिए हिंदी भाषी समाज की ओर से कोई संस्था नहीं है और न तो उसके उद्देश्य की ओर ध्यान दिलाने वाला कोई पात्र ही है।'[43] नाटक के अभाव की जगह उन्होंने कहा कि हिंदी में रंगमंच ही नहीं है[44] और 'भारतेंदु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देख कर जिस हिंदी रंगमंच की स्वतंत्र स्थापना की थी उसमें सबका समन्वय था',[45] लेकिन इस सजीव रंगमंच की रक्षा नहीं की गयी और जब इसके पनपने का अवसर था 'तभी सस्ती भावुकता ले कर चित्रपटों का अभ्युदय हो गया। फलत: अभिनयों का रंगमंच नहीं सा हो गया।'[46]

प्रसाद ने संस्कृत रंगमंच का गहन अध्ययन और विश्लेषण किया था। इससे वे गहरे प्रभावित भी थे। वे अंधानुकरण के विरोधी थे। यथार्थवाद नाम के आयातित पश्चिमी सिद्धांत की आलोचना भी उन्होंने की। उन्होंने नाट्य प्रस्तुति में नाट्यशास्त्र में वर्णित अभिनय के प्रकार लोकधर्मी और नाट्यधर्मी के संतुलन की बात की।[47] पारसी नाटक तो कुरुचि का नेतृत्व करने वाला था ही, जिसने यही प्रेरणा सिनेमा को भी दी थी।[48] तात्पर्य यह है कि प्रसाद ने रंगमंच की व्याख्या की और फिर समकालीन रंगमंच का अवलोकन करने पर उसे अपनी अभिव्यक्ति के अनुकूल नहीं पाया। प्रसाद के नाटकों का रचना विधान ऐसा बना कि वे रंगमंच पर अभिनीत होने के लिए सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार की माँग करने लगा[49] जो उस समय दुर्लभ थे।[50] यह मिल जाने के बाद भी प्रसाद के नाटकों के अनुकूल दर्शक वर्ग मौजूद नहीं था। प्रसाद ने जीवंत रंगमंच के अभाव में अपने मानस में एक आदर्श रंगमंच की रचना कर उसके अनुकूल नाटक लिखे। इनमें मंचन सबंधी जटिलता है लेकिन *ध्रुवस्वामिनी* तक वे रंगमंच की व्यावहारिकता के क़रीब आते गये। इस क्रम में उन्हें पारसी रंग-विधान का भी सहारा लेना पड़ा। चूँकि उनके सामने आदर्श रंगमंच का कोई जीवित मॉडल नहीं था और पारसी का प्रभाव व्यापक था इसलिए उसके रंग-विधान का आ जाना स्वाभाविक

---

[43] जयशंकर प्रसाद (1923), 'हिंदी में नाटक का स्थान', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग 1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 85.

[44] जयशंकर प्रसाद (1937) (क), 'रंगमंच', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग-1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 101.

[45] वही : 102.

[46] वही : 101.

[47] वही.

[48] वही.

[49] वही : 103.

[50] उस समय पारसी नाटककारों और साहित्यिक नाटककारों ने एक स्वर से रंगमंच पर शिक्षित अभिनेताओं के अभाव की बात की थी. *रंग दस्तावेज़* में संकलित विभिन्न लेखकों के मतों में इसकी ध्वनि देखी जा सकती है.



पारसी कम्पनियों के नाटककारों, निर्देशकों और अभिनेताओं के चित्र प्रकाशित पुस्तकों या व्यक्तिगत संग्रहालयों में मिल जाते हैं, पर प्रदर्शनों के चित्र आसानी से नहीं मिलते। जो चित्र उपलब्ध हैं, वे तीसरे-चौथे दशक की मण्डलियों के हैं.
फ़ोटो : महेश आनंद के सौजन्य से

ही था। जीवित रंगमंच के अभाव ने प्रसाद के नाटकों की उस रंगमंचीय सम्भावना को धूमिल कर दिया जिसे बहुत बाद में जाकर उजागर किया जा सका।[51]

जयशंकर प्रसाद छायावादी काव्य आंदोलन के महत्त्वपूर्ण स्तम्भ थे। काल्पनिकता और यथार्थ के परे जाना इस कविता की मुख्य विशेषताओं में से एक थी। इसका प्रभाव भी इनके नाटकों के संवाद और गीतों में देखा जा सकता है। नाटक के रचना-विधान में प्रसाद ने संस्कृत रंग-विधान का भी सहारा लिया है। पाँच अंकों की योजना, समय-खण्डों की लम्बाई, रंग-स्थलों के परिवर्तन की जो योजना उन्होंने अपने नाटकों में की थी उसके लिए दृश्य-विधान उस समय के रंगमंच पर नहीं रचा जा सकता था। संस्कृत रंगमंच के कक्ष विभाजन में इसके लिए गुंजाइश थी। प्रसाद उस समय भारतीय रंगमंच की कल्पना कर रहे थे जिस समय वह पश्चिम के यथार्थवादी रंगमंच से आक्रांत था और रही सही कहर पारसी रंगमंच के रंगीन पर्दे पूरी कर रहे थे। हिंदी रंगमंच में प्रसाद ने पहली बार नाटक को दृश्य-काव्य बनाने की पहल की। जगदीशचंद्र माथुर ने लिखा है कि 'सम्भवतः प्रसाद ने यह कल्पना की कि नाटककार स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाले माहौल की रचना करके पाठक की कल्पना को इस तरह उद्दीपित कर सकता है कि उसे रंगमंच की अनुपस्थिति का बोध न हो।'[52] प्रसाद ने यह कल्पना अपने नाटकों के ज़रिये साकार की। उनके नाटक पढ़ने के दौरान मानसिक रंगमंच पर खेला जाता हुआ प्रतीत होता है।

प्रिंट में नाटकों की उपलब्धता और हिंदी के पाठ्यक्रम में स्थायी महत्त्व प्राप्त हो जाने ने प्रसाद के नाटकों के मंचन के अभाव की पूर्ति कर दी। प्रसाद ने स्पष्ट कहा है कि 'नाटक अभिनय के लिए तो होते ही हैं, सुपाठ्य भी होते हैं अथवा वे श्रव्य-काव्य का भी अभिनय कर लेते हैं।'[53] स्पष्ट है कि प्रसाद नाटक के प्रिंट रूप को लेकर सजग थे। एक बार जब उन्होंने अपने नाटकों के मंचन के लिए ज़रूरी संसाधनों का अभाव देख लिया होगा तब इसके प्रकाशित रूप पर उनका ध्यान अधिक

---

[51] शांता गांधी, रामगोपाल बजाज, ब.व. कारंत और राबिन दास जैसे निर्देशकों की प्रस्तुतियों ने सिद्ध किया है कि प्रसाद एक बेहतर राष्ट्र और मनुष्य की यात्रा को जिस व्यापक धरातल पर अंकित करना चाहते थे वह आज भी कई अर्थों में सार्थक है. महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग 1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 83.

[52] जगदीशचंद्र माथुर (1956), *हिंदी ड्रामा, इण्डियन ड्रामा इन रेट्रोस्पेक्ट,* संगीत नाटक अकादेमी, होप इण्डिया पब्लिकेशन, नयी दिल्ली :126.

[53] जयशंकर प्रसाद (1923) : 86.



आगा हश्र ने खीझ कर कहा था कि 'अभी हिंदुस्तान में हिंदी इतनी नहीं उठी है जितनी पश्चिम में अंग्रेज़ी। यहाँ तो थियेटरों में अभी अर्से तक खिचड़ी (गिरी पड़ी) भाषा ही चलेगी।

केंद्रित हो गया होगा, और इसीलिए उन्होंने पाठ्य से नाटक की रंगमंचीयता को प्रतिस्थापित किया। इससे एक अलग परम्परा की नींव पड़ी जिसने रंगमंच के विकास में बाधा पहुँचाई। नाटकों का 'रंग-नाटक' और 'पाठ्य-नाटक' में श्रेणी-विभाजन हो गया। यद्यपि प्रसाद नाटकों को रंगमंच से अलग करके नहीं देखते थे लेकिन बाद के कई नाटककारों ने रंगमंच की अनिवार्यता ही महसूस नहीं की। बहुत से नाटक ऐसे लिखे गये जिनका मंचन ही नहीं हो सका, लेकिन हिंदी नाटक-साहित्य के इतिहास में वे जगह पा गये। अनुशासन के रूप में हिंदी के विकास ने इन नाटकों को पाठ्यक्रमों में जगह दिला दी पर इस प्रवृत्ति ने रंगमंच और नाटककार के आपसी मेल को नुकसान पहुँचाया। लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविंद दास और हरिकृष्ण प्रेमी जैसे नाटककारों ने अपने नाटकों को, जो संवादयुक्त कहानी की तरह थे, रंगमंच से जोड़ना ज़रूरी नहीं समझा।[54] भारतेंदु के नाटकों की संपृक्ति पारम्परिक नाटकों से बनी हुई थी, लेकिन प्रसाद ने इन पारम्परिक नाटकों से दूरी बनाई। प्रसाद ने स्पष्ट रूप से नौटंकी, रामलीला और यात्रा को अभिनय से विहीन रंगमंच कहा, हालाँकि यह रंगमंच सर्वसाधारण के अभिनय के लिए सुलभ था।[55] इस पंक्ति को ज़ोर देकर पढ़ा जाना चाहिए कि प्रसाद संस्कृत रंगमंच को आदर्श रंगमंच मानते हैं, पश्चिमी यथार्थवाद की आलोचना करते हैं, परम्पराशील रंगमंच को अभिनय विहीन घोषित कर देते हैं एवं अपने नाटकों के लिए मौजूदा परम्पराओं से अलग रंगमंच की माँग करते हैं जो उन्हें नहीं मिलता।

जयशंकर प्रसाद ने नाट्य मुहावरा गढ़ने के लिए अलग रास्ता अख़्तियार किया लेकिन नाटक लिखने के उद्देश्य के संदर्भ में उन्होंने भारतेंदु की परम्परा आत्मसात् कर उसका विस्तार भी किया। राष्ट्रीय चेतना और गौरव का निर्माण, देशभक्ति, आदर्शवाद और परम सत्ता के प्रति आस्था प्रसाद के नाटकों में उपस्थित है।[56] प्रसाद ने कहा भी कि 'नाटक अपने अभिनय द्वारा समाज की मनोवृत्तियों के लिए साँचे का काम करता है। एक बार फिर हम कहेंगे समाज में नैतिक साहस के गुणों की जागृति में नाटक प्रचुरता से सहायक हो सकता है।'[57] प्रसाद के नाटकों पर समाज सुधार, राष्ट्रीयता और नवोत्थान का स्वर छाया हुआ है।[58]

भारतेंदु ने युरोप के नाटकों की छाया के आधार पर लिखे गये नवीन नाटकों का मुख्य उद्देश्य शृंगार, हास्य और कौतुक के साथ समाज-संस्कार और देश-वत्सलता को माना था। समाज-संस्कार के नाटकों में देश की कुरीतियाँ दिखाई जाती थीं जिसका उदाहरण भारतेंदु द्वारा विवाह संबंधी कुरीति-

---

[54] लक्ष्मीनारायण लाल ने इस नाटक को भाषा का रंगमंच, प्रस्ताव थीसिस, प्रबंध का नाट्य, और कथात्मक रंग विधान का जगत इत्यादि नाम दिया है. साथ ही इनके नाटकों की विवेचना करके यह सिद्ध भी किया है कि यह रंगमंच के अनुकूल नहीं थे और इब्सन के यथार्थवादी रंगमंच से प्रेरित थे. देखें, *हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास,* एकादश भाग : 338.

[55] वही.

[56] जगदीशचंद्र माथुर (1956) : 125.

[57] जयशंकर प्रसाद (1923) : 86.

[58] *चंद्रगुप्त* नाटक के पहले दृश्य में वे मागध और मालव का भेद भूल कर राष्ट्र की एकता की बात करते हैं. स्कंदगुप्त देशसेवा के लिए तत्पर रहता है. अपने नाटकों में उन्होंने भारत राष्ट्र की कल्पना के लिए इतिहास का निर्माण भी किया और सभी आधुनिक समस्याओं को प्राचीन स्थिति से सम्बोधित किया. स्त्री भी उनकी चिंता में थी. उनके नाटकों की स्त्रियाँ अत्यंत प्रखर हैं. *ध्रुवस्वामिनी* नाटक की ध्रुवस्वामिनी तो उस युग में एक दुर्लभ पात्र है. लेकिन प्रसाद के स्त्री-पात्र भी इस युग चेतना से ही निर्मित है जिसमें स्त्री को राष्ट्र-निर्माण के लिए स्वयं को तैयार करने और भावी संतान को तैयार करने के लिए गढ़ा गया.



'महाभारत' : लेखक और निर्देशक पण्डित माधव शुक्ल, हिंदी नाट्य समिति, 1916. यह छाया चित्र बताता है कि उसका प्रदर्शन पारसी रंग-शैली से अलग नहीं था. माधव शुक्ल ने अपने रंग-नगर इलाहाबाद के साथ-साथ लखनऊ, जौनपुर और कलकत्ता में मण्डलियों की स्थापना करके भारतेंदु के रंग-कार्य को आगे बढ़ाया.
फ़ोटो : महेश आनंद के सौजन्य से

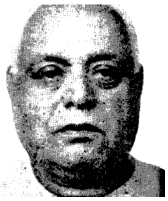
निवारण अथवा धर्म संबंधी विषयों में संशोधन के रूप में दिया है। देश-वत्सल नाटकों का उद्देश्य था स्वदेशानुराग उत्पन्न करना। इन सबका ध्येय उन्नति था।[59] ऊपर हुई चर्चा में यह विस्तार से बताया गया है कि भारतेंदु के बाद प्रसाद तक किस तरह नाट्य लेखन भारतेंदु के बताए उद्देश्यों का अनुसरण करता है। इसको इस तरह भी कह सकते हैं कि उनकी निगाह में इन उद्देश्यों का जनसाधारण में प्रचार ही नाटक का उद्देश्य है जिसके लिए उन्होंने परम्पराशील रंगमंच को अनुपयुक्त पाया।

आधुनिक हिंदी नाटकों का एक और मुख्य कार्य था हिंदी भाषा का प्रचार। भारतेंदु इच्छा व्यक्त करते हैं कि 'यद्यपि हिंदी भाषा में दस-बीस नाटक बन गये हैं किंतु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बनते जाएँगे। और अपनी सम्पत्तिशालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षयरत्न भण्डारागार की सहायता से हिंदी भाषा बड़ी उन्नति करेगी।'[60] माधव शुक्ल भी नाटकों को हिंदी प्रचार का सर्वाधिक सशक्त माध्यम मानते हैं। जयशंकर प्रसाद भी पारसी रंगमंच से हो रहे उर्दू के प्रचार को देख ज़ोर देकर कहते हैं कि नाटक भाषा प्रचार का सशक्त माध्यम हो सकता है। लेकिन वे चिंतित थे क्योंकि 'हिंदी के उत्तमोत्तम महाकवियों की वाणी इस विषय में अपना अधिकार खो रही है।'[61] भारतेंदु से प्रसाद तक विकसित हो रही हिंदी भाषा का इतिहास बोली मान ली गयी लोक-प्रचलित भाषाओं और उर्दू से इसके अलगाव का इतिहास भी है। हिंदी में इसी दौर में हिंदीसेवी संस्थाएँ खड़ी की गयी, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ और विद्वानों ने हिंदी भाषा के मानकीकरण की दिशा में काम किया। हिंदी को सरकारी काम काज की भाषा बनाने की माँग हुई। इसी दौर में हिंदी की जातीय चेतना के निर्माण की कोशिश होती है। हिंदी गद्य का विकास खड़ी बोली में होता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से कविता की भाषा भी खड़ी बोली बन जाती है। हिंदी उर्दू के बरअक्स भी खड़ी थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी की संस्कृत शैली की वकालत करते हैं। इस क्रम में वे हिंदी में मिले उर्दू के शब्दों को भी अलग करने की पहल करते हैं। देवनागरी हिंदी की लिपि बन जाती है। युरोपीय राष्ट्रवाद के तर्ज पर राष्ट्र-निर्माण के लिए एक भाषा पर ज़ोर दिया जाता है। एक तरह का हिंदी राष्ट्रवाद खड़ा

[59] भारतेंदु (1883) : 51.

[60] भारतेंदु हरिश्चंद्र (1883) : 69.

[61] जयशंकर प्रसाद (1923) : 86.



रंगमंच का 'रूप' और इसकी 'भाषा' हिंदी प्रदेश के व्यापक लोक के लिए अबूझ हो गयी। ... राधेश्याम कथावाचक ने भी सरल हिंदी को नाटक में न रखने को रंगमंच के लिए विघ्न माना था।

होता है जो हिंदुओं के अधिक निकट प्रतीत होता है। हिंदी की संस्कृतनिष्ठता और उर्दू से अलगाव इसे हिंदुओं की भाषा बना देता है।[62] हिंदी रंगकर्मियों ने हिंदी भाषा के मानकीकरण के लिए हिंदी भाषा में से लोक-भाषाओं के शब्दों और लहज़े को अलग किया। चूँकि उर्दू उनकी निगाह में भ्रष्ट पारसी रंगमंच की भाषा थी, इसलिए उर्दू से भी दूरी स्वाभाविक थी। संस्कृत की तरफ़ जाने का रुझान था।[63] 'आर्यशिष्टजनोपयोगी रंगमंच' और 'सुरुचिसम्पन्न' रंगमंच के लिए नाटक की भाषाई शुद्धता पर ज़ोर दिया जा रहा था।

भारतेंदु से प्रसाद तक हिंदी नाटकों की भाषा में हिंदी के मानकीकरण और एक राष्ट्रीय भाषा गढ़ने के इतिहास को पढ़ा जा सकता है। भारतेंदु से प्रसाद तक हिंदी नाटकों की भाषा में उर्दू और लोक-भाषाओं के शब्द निरंतर घटते हैं और तत्समनिष्ठता बढ़ती है। भारतेंदु के नाटकों की भाषा में अधिक खुलापन है। भारतेंदु ने विविध भाषाओं के मिश्रण से अपनी नाट्य भाषा तैयार की है। लेकिन धीरे-धीरे द्विवेदी युग के नाटककारों के साथ-साथ प्रसाद के नाटकों तक भाषा संसस्कृतनिष्ठ हिंदी हो जाती है। प्रसाद भाषा के रूप में हिंदी के राष्ट्रीय प्रसार के लिए इसकी एकरूपता को ज़रूरी मानते हैं। इसीलिए वे नाटकों में पात्रों के बीच भेद को उजागर करने के लिए भंगिमा को ज़रूरी मानते हैं और भाषिक उच्चारण या भाषिक भिन्नता को खारिज़ करते हैं।[64] हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविंददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे नाटककारों के अपने नाटकों की भाषा भी विचारों से इस तरह लदी हुई है कि उनमें सम्प्रेषणीयता और दृश्यात्मकता नहीं है।

आधुनिक हिंदी रंगमंच ने भाषा के स्तर पर भी लोकप्रचलित आमफ़हम भाषा से भी दूरी बनाकर अपनी पहुँच को सीमित कर लिया। जैसी हिंदी विकसित हो रही थी उसका बरताव करने वाली जनता हिंदी प्रदेश में अभी नहीं थी। आधुनिक हिंदी रंगमंच का 'रूप' और इसकी 'भाषा' हिंदी प्रदेश के व्यापक लोक के लिए अबूझ हो गयी। साहित्यिक रंगमंच की शिक्षाओं और इसकी भाषा को शिक्षित मध्य वर्ग ही समझ पाता था। आम जन को यह भाषा समझने में आसानी नहीं थी। लक्ष्मीकांत भट्ट ने लिखा है कि 'कौन सी जनता दो रुपये का टिकट, दस आने की *महाभारत* नाटक की किताब और सवा रुपये की डिक्शनरी हिंदी शब्द कोश खरीद कर पण्डित माधव शुक्ल का महाभारत नाटक देखने जाएगी।' राधेश्याम कथावाचक ने भी हिंदी साहित्य सम्मेलन के लाहौर अधिवेशन (1922) में सरल हिंदी को नाटक में न रखने को रंगमंच के लिए विघ्न माना था।[65] प्रकाशन जगत को भी शिक्षित जनता की कमी झेलनी पड़ी थी और उसने अपनी पहुँच बढ़ाने के लिए हिंदी प्रदेश में व्याप्त लोक रूपों को छापना शुरू कर दिया था। हिंदी रंगमंच ने पारसी रंगमंच की सुगम भाषा को भी हेय समझा और लोक-भाषाओं को हिंदी की एकरूपता में बाधक माना।

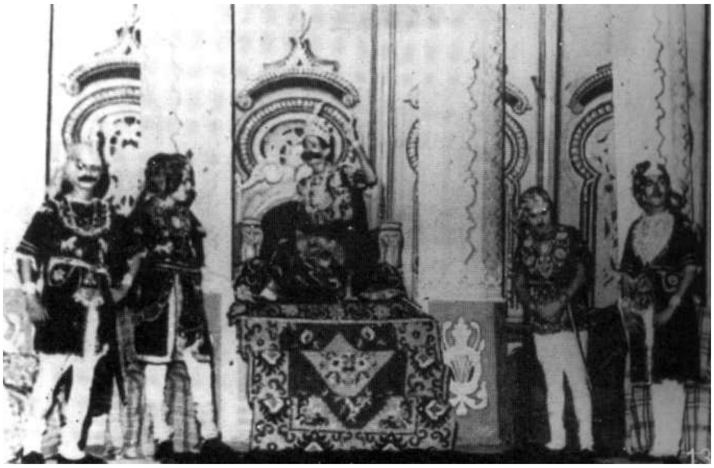
---

[62] देखें, क्रिस्टोफर आर. किंग (1994), *वन लैंग्वेज टू स्क्रिप्ट्स : द हिंदी मूवमेंट इन नाइंटीथ सेंचुरी नार्थ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली और आलोक राय (2000), *हिंदी नैशनलिज़म,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

[63] देखें, कैथरिन हैन्सन (1989).

[64] देखें, जयशंकर प्रसाद (1923) : 86.

[65] लक्ष्मीकांत भट्ट (1928), 'हिंदी नाट्य जगत', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 275. *पण्डित राधेश्याम* कथावाचक (1922), 'वर्तमान नाटक तथा बायस्कोप कम्पनियों द्वारा हिंदी प्रचार', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग-1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 150.



हिंदी नाट्य परिषद, कलकत्ता द्वारा मंचित 'मेवाड़ पतन' (1939). फ़ोटो : महेश आनंद के सौजन्य से

'सुरुचिपूर्ण साहित्यिक रंगमंच' विकसित करने की प्रक्रिया में आधुनिक हिंदी रंगमंच ऐसा बन गया जिसका आस्वाद शिक्षित मध्य वर्ग ही ले सकता था। कैथरीन हेनसेन लिखती हैं कि यह आम आदमी के रंगमंच से साफ़ दूर था। यह शौक़िया रंगमंच विशिष्ट जनों के लिए और विशिष्ट जनों द्वारा था। यह रईसों के दरबार में सभ्य समाज के बीच नियंत्रित रूप में खेला गया।[66] कैथरीन की बातें अंशत: स्वीकार की जा सकती है क्योंकि भारतेंदु द्वारा शुरू किया गया रंगमंच शिक्षित समाज का था लेकिन इसके दर्शक केवल इसी वर्ग के नहीं थे। भारतेंदु का नाटक *अँधेर नगरी* बनारस में दशवाश्वमेध घाट पर खुले में खेला गया था।[67] बनारस के अतिरिक्त अन्य हिंदी प्रदेशों में भी इसका मंचन हुआ। बलिया, डुमराँव, कानपुर, मुज़फ़्फ़रपुर जैसी जगहों पर भी इन नाटकों का मंचन हुआ और शौक़िया रंगमण्डलियों की स्थापना हुई।[68] लेकिन धीरे-धीरे रूप, भाषा, शैली, विषय इत्यादि के कारण आधुनिक हिंदी रंगमंच अपने लोक से कटता गया और एक नयी चेतना से युक्त छोटे से समाज के बीच सीमित हो गया। हिंदी रंगमंच के प्रयोक्ताओं ने हिंदी प्रदेश में मौजूद लोक-शैलियों को पिछड़ा घोषित कर दिया। उनकी निगाह में इससे जुड़ना मध्ययुगीनता की तरफ़ मुड़ना था। उन्होंने आधुनिक चेतना, द्वंद्व और विषयों की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत और पाश्चात्य नाट्य लेखन के मानदंडों को ही अपना आदर्श बनाया। इसमें छपने को मंचित होने से अधिक प्राथमिकता मिलती गयी। साहित्यिक रंगमंच पारसी शैली की लोकप्रियता से पिछड़ता हुआ छपे रूप में सिकुड़ने लगा। साहित्यिक हिंदी के नाटकों को हिंदी के नाटकों में जगह मिली जबकि पारसी के नाटककारों को नाटककारों की सूची में भी स्थान नहीं मिला। हिंदी प्रदेश की बौद्धिक प्रतिभाओं ने जनसाधारण तक अपनी बात पहुँचाने के लिए नाटक और रंगमंच जैसे लोकप्रिय माध्यम को तो अपनाया लेकिन इसे इसके लोक से वंचित कर दिया। रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र शिक्षित मध्यवर्ग के मूल्यों के अनुकूल गढ़ा गया जिसमें पारसी और परम्पराशील नाटकों की जगह नहीं थी क्योंकि उन्हें विकृत रुचियों का पोषक मान लिया गया था। इस तरह जनता का रंगमंच इनके लिए रंगमंच ही नहीं था।

---

[66] कैथरिन हैन्सन (1989) : 84.

[67] भारतेंदु हरिश्चंद्र (2005), *अँधेर नगरी,* भूमिका.

[68] महेश आनंद (1978) : 56.



बेताब लिखित *महाभारत* से वस्तुतः एक आदर्श नाट्य भाषा की नींव पड़ी जो पारसी थियेटर की प्रकृति के अनुरूप उर्दू-फ़ारसी से मुक्त पूरी तरह से हिंदुस्तानी थी अर्थात् हिंदुस्तानी अवाम की भाषा।

साहित्यिक रंगमंच के उद्देश्य और पारसी रंगमंच

पारसी रंगमंच भी औपनिवेशिक प्रभाव में विकसित हुआ था लेकिन व्यावसायिक होने कारण यह निरंतर उन फ़ार्मूलों की तलाश में रहा जिससे उसके व्यावसायिक मुनाफ़े में वृद्धि हो सके। रूप, भाषा और विषय सभी क्षेत्रों में इसने अपने दरवाज़े खुले रखे थे। पारसी रंगमंच की भाषा ने गुजराती से फ़ारसी बहुल उर्दू से सामान्य बोलचाल की उर्दू से होते हुए सरल हिंदी की यात्रा तय की। इस विकास के मुख्य कारणों में पहली भूमिका दर्शक की थी। सफलता अर्जित कर सकने वाले नाटककारों की भूमिका भी थी, जो उर्दू से हिंदी भाषा की तरफ़ आये। कैथरीन हैनसेन ने लिखा है कि 'गुजराती के मुक़ाबले हिंदुस्तानी को दोयम मानते हुए भी इस भाषा में नाटक करने की दो वजहें हैं। पहली यह कि एक भाषा-विशेष से बाहर पहुँच हो सके ताकि इसके दर्शकों में वृद्धि हो और दूसरी यह कि इसमें समृद्ध आख्यानपरक और गीतात्मक शैली जोड़ कर मनोरंजन के तत्त्वों को बढ़ाया जा सके।'[69] ये शैलियाँ हिंदी प्रदेश में प्रचलित परम्पराशील रंगमंच की शैलियाँ ही थीं।

पारसी रंगमंच अपने विषय और कर्ता की दृष्टि से एक सार्वभौम रंगमंच था जिसमें विविध धर्मों और विविध भाषाओं के लोग काम करते थे। हिंदू पौराणिक विषयों से ले कर, सामाजिक कथानक, रुस्तम-सोहराब और रोम भी इसके कथानक-दायरे में था। पारसी रंगमंच ने समय की नब्ज़ भाँपते हुए उन उद्देश्यों (समाज-संस्कार, देश-वत्सलता और भाषा-प्रचार) को भी अपने नाटकों में शामिल किया जिनसे साहित्यिक रंगमंच प्रेरित था।[70] जिस 'राष्ट्रीय इयत्ता' की खोज भारतेंदु ने शुरू की थी उसी की अभिव्यक्ति पारसी थियेटर के नाटकों में भी देखी जा सकती थी। हिंदी प्रदेश में चल रहे भाषा आंदोलन और समाज सुधार आंदोलन में भी इसने अपना योगदान दिया। इस रंगमंच की भाषा अधिक लोकप्रिय थी इसलिए यह जनता के बीच तब तक अपनी जगह बनाए रख सका जब तक इन्हीं गुणों से लैस होकर बोलता हुआ सिनेमा सामने नहीं आ गया।

पारसी रंगमंच पर भाषा के तथाकथित अराजक प्रयोग की भी निंदा हुई। जब पारसी रंगमंच की भाषा उर्दू से हिंदी की तरफ़ मुड़ी तो उस तरह संस्कृतनिष्ठ नहीं हुई जिस तरह उस समय के साहित्यिक और शौक़िया रंगमंच की भाषा हो गयी थी। इन नाटककारों ने भाषा को आमफ़हम ज़ुबान के क़रीब रखने की कोशिश की। राधेश्याम कथावाचक ने कहा भी है कि 'नाटक की भाषा बोलचाल की भाषा है, लेख की भाषा नहीं है। लेख में सौ बार ध्यान दे सकने का मौक़ा मिलता है, पर नाटक के पात्र के कथन को सुनते ही समझना ज़रूरी है। इसलिए जहाँ तक हो, सर्वगम्य भाषा का प्रयोग ही नाटक में होना चाहिए।'[71] पारसी रंगमंच दर्शकों पर आश्रित रंगमंच था इसलिए इसे ऐसी भाषा रखनी पड़ी जो दर्शक समझे। फ़ारसी बहुल उर्दू भी उसके दर्शक वर्ग को सीमित करती थी। हिंदी प्रदेश में दर्शक वर्ग बढ़ाने के लिए उसने हिंदू पौराणिक कथाओं का सहारा लिया। चूँकि पौराणिक पात्र उर्दू बोलते उचित नहीं लगते थे इसलिए भाषा की प्रकृति भी बदलने लगी और हिंदी की ओर मुड़ी।[72] इस दृष्टि से

---

[69] कैथरिन हैन्सन (2004) : 74.

[70] वही : 254.

[71] राधेश्याम कथावाचक (1922), वही :150.

[72] हिंदी के दो आरम्भिक नाटक *हरिश्चंद्र* (तालिब) और *महाभारत* (बेताब), *वीर अभिमन्यु* (राधेश्याम कथावाचक), *बिल्वमंगल* (हश्र) सबका आधार हिंदू पौराणिक ग्रंथ थे.

नारायण प्रसाद बेताब लिखित *महाभारत* का ऐतिहासिक महत्त्व है। उसी रचना से वस्तुत: एक आदर्श नाट्य भाषा की नींव पड़ी जो पारसी थियेटर की प्रकृति के अनुरूप उर्दू-फ़ारसी से मुक्त पूरी तरह से हिंदुस्तानी थी अर्थात् हिंदुस्तानी अवाम की भाषा।[73] इससे व्यापक हिंदू समाज में इस थियेटर की पहुँच बढ़ी। हिंदू समाज की स्त्रियाँ पहले इन नाटकों से दूर ही रहती थीं। वे भी इन नाटकों में आने लगीं और उनके लिए विशेष प्रदर्शन रखे जाने लगे।[74]

राधेश्याम कथावाचक और नारायण प्रसाद बेताब की लोकप्रियता के दबाव से ही आगा हश्र कश्मीरी ने भी हिंदी में नाटक लिखे।[75] इनके नाटकों पर हिंदी को विकृत करने के आरोप लगे, साथ ही पारसी रंगमंच की भाषा को हिंदी कर देने का आरोप भी लगाया गया, जिससे उर्दू की रवानी में बाधा हुई।[76] लेकिन जिस हिंदी भाषा का इस्तेमाल पारसी रंगमंच पर हुआ उसके व्यावहारिक कारण थे। पारसी नाटकों में काम करने वाले अधिकतर लोग पहले मुसलमान थे। नाटक कम्पनियों के अधिकतर लेखक, अभिनेता और निर्देशक भी पहले इसी समुदाय के थे।[77] उसके बाद अशिक्षित लोगों की भरमार थी। शिक्षित अभिनेताओं की कमी की बात इस दौर के सभी नाटककारों ने उठाई है। दर्शक भी प्राय: अ-साहित्यिक थे जो साहित्यिक भाषा न समझ सकते थे और न ही उसे पसंद करते थे।[78] पारसी कम्पनियों के मालिकों का भी ध्यान बस कमाई पर रहता था। उन्हें नाटकों की भाषा जाँचने की फ़ुर्सत नहीं थी। इसी कमाई की आड़ और दर्शकों का रोना लेकर पारसी नाटकों में दर्शक रिझाऊ फ़ार्मूले इस्तेमाल किये जाते थे। नाटक में खोज-खोज कर ऐसी गुंजाइशें निकाली जाती थीं जिनसे प्रभावित हो कर दर्शक दोबारा संवाद बोलने या दुहराव की माँग कर सकें। आलोचक इसीलिए पारसी नाटक की भाषा की आलोचना करते थे। आगा हश्र ने खीझ कर कहा था कि 'अभी हिंदुस्तान में हिंदी इतनी नहीं उठी है जितनी पश्चिम में अंग्रेज़ी। यहाँ तो थियेटरों में अभी अर्से तक खिचड़ी (गिरी पड़ी) भाषा ही चलेगी। हिंदी के ऊँचे लोग चाहते हैं ऐसी उच्चकोटि की भाषा जिसे स्टेज पर रखा जाए तो उन हिंदी के दिग्गजों के घरवाले तक नाटक देखने आवें तो न समझ सकें। कम्पनी का पहली ही रात टाट उलट जाए। फिर इन आलोचकों को न स्टेज का ज्ञान है न वाक़यात जानते हैं बस अंधाधुंध लिखते रहते हैं।' हश्र ने पारसी रंगमंच के रवैये की भी आलोचना की। पारसी के इन नाटककारों ने भी दावा किया कि वे हिंदी का प्रचार कर रहे हैं, 'मुझे हर्ष है कि मैंने इन नाटकों से हिंदी नाटकों की सेवा की है, हिंदुत्व को आगे बढ़ाया है और धार्मिक भावों का प्रचार किया है।' [79] मधुरेश ने कथावाचक के भाषा प्रयोग को उर्दू के गढ़ में हिंदी की सेंध कहा है।[80] जबकि बेताब ने संकोच से लिखा, 'मैंने हिंदी तेरे साहित्य को बदनाम किया/ फिर भी सोच के खुश हूँ कि कोई काम किया।'[81] ज़ाहिर है कि हिंदी भाषा का प्रचार उन्हीं उद्देश्यों में से एक था जिसे भारतेंदु ने तय

---

[73] मधुरेश (2010), *राधेश्याम कथावाचक,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 24.

[74] पण्डित नारायण प्रसाद बेताब (1937), *बेताब चरित,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 77.

[75] 1915 के बाद लिखे नाटकों में उन्होंने बस छह नाटक ही उर्दू में लिखे बाक़ी हिंदी में 13 नाटक लिखे. विद्यावती नम्र (1972) : 137.

[76] लक्ष्मीनारायण लाल (1973), *पारसी हिंदी रंगमंच,* केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नयी दिल्ली : 72.

[77] राधेश्याम कथावाचक (2004) मेरा नाटककाल, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 22.

[78] तुलसीदास शैदा (1928), 'नाट्याचार्य तुलसीदास शैदा से बातचीत', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग-1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 327.

[79] कथावाचक (2004) : 166.

[80] राधेश्याम कथावाचक को नाटकों की भाषा हिंदी रखने पर नाट्य दल में विरोध भी झेलना पड़ा और भाषा के हिसाब से पात्र रखने में मशक्कत भी करनी पड़ी. वे बार-बार मुसलमान पार्टी के विरोध का ज़िक्र भी करते हैं. मधुरेश (2010) : 45.

[81] बेताब (1937): 79.

किया था और पारसी रंगमंच भी जिसका दावा कर रहा था।

पारसी नाटकों ने राष्ट्रीय भावना का प्रसार भी किया। वस्तुत: राष्ट्र की कल्पना जब की जाती है तो उसके लिए एक अतीत का भी निर्माण किया जाता है। इस राष्ट्र की कल्पना शिक्षित मध्यम वर्ग करता है और फिर इसके इतिहास में वह जनता को आमंत्रित करता है।[82] प्रेस और लोकप्रिय जन-कलाएँ इसका माध्यम बनती है। यह आमंत्रण उस भाषा में भेजा जाता है जिसे मध्यम वर्ग समझता है। इसके विपरीत पारसी रंगमंच ने इस राष्ट्रीय इतिहास में जनता को शामिल होने का आमंत्रण उस भाषा में भेजा जो उसे समझ में आता था। इस प्रक्रिया में हिंदू पौराणिक आख्यानों का सहारा लिया गया। इसी में प्राचीन भारत के अतीत के बहाने वर्तमान की निम्न दशा का संकेत किया जाता था।[83] इनके ऊपर ड्रैमेटिक परफोर्मेंस एक्ट की तलवार भी लटक रही होती थी इसलिए उस पर रूमानियत का चटख़ रंग भी चढ़ाना पड़ता था।[84] राष्ट्रीय चेतना फ़ैलाने के साथ-साथ इस मंच से समाज सुधार की भी बात उठाई गयी। बेताब ने अपने नाटकों *समाज, हमारी भूल, मदर इण्डिया* इत्यादि में 'तत्कालीन सामाजिक समस्याओं, जैसे अस्पृश्यता निवारण, ऊँच-नीच, शूद्रों व स्त्रियों को वेदादि पढ़ने का अधिकार देने, शूद्रों द्वारा ईश्वर-भक्ति और कुएँ से जल लेना, भारतीय जीवन में साकार और निराकार भक्ति का महत्त्व, एक्य की महत्ता, एकेश्वरवाद आदि का समावेश करके समाज में घुसे हुए दोषों को दूर करने की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया।'[85] आगा हश्र के नाटक *आँख का नशा, यहूदी की लड़की* और *रुस्तम-सोहराब* में समाज की स्थिति और हाशियाग्रस्त जनता के संघर्षों का ही चित्रण है। राष्ट्रीय एवं सामाजिक आंदोलनों के नेताओं के साथ भी इन नाटककारों का सम्पर्क था। बेताब का नाटक *मदर इण्डिया* 1928 के दिसम्बर में हुए कांग्रेस के कलकता अधिवेशन में खेला गया था जिसकी अध्यक्षता मोतीलाल नेहरू ने की थी।[86] मोतीलाल नेहरू का सम्पर्क कथावाचक से भी था और कथावाचक ने भी अपने ऊपर महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमचंद

---

[82] बेनेडिक्ट ऐंडरसन (1983), *इमैजिंड कम्युनिटी : रिफ़्लेक्शंस ऑन द ऑरिजिन ऐंड स्प्रेड ऑफ़ नैशनलिज़म,* वर्सो, लंदन. : 80.

[83] बेताब ने *हमारी भूल* में कहलवाया :

खबर लो देवकी नंदन अभागे दीन भारत की।

अब देखी नहीं जाती दशा बलहीन भारत की।।

न है सम्मान अबला का न कन्याओं का आदर है.

नये भारत में चमका दो चमक प्राचीन भारत की।। देखें, विद्यावती नम्र (1972) : 527.

राधेश्याम कथावाचक ने कृष्णावतार में कहलवाया : *नाथ फिर डूबते भारत को बचाने आओ.* देखें, कथावाचक (2004) : 150

रुस्तम सोहराब में आगा हश्र ने कहलवाया :

बेवक़ूफ़, सुन अपने अहले वतन के दिल से मौत का डर दूर करने के लिए मुझे ज़िंदा रहने की ज़रूरत थी, और शुक्र है कि मैं ज़िंदा हूँ, लेकिन सोहराब के लिए नहीं अपने मुल्क के लिए; मुहब्बत के लिए नहीं ,अपने वतन की खिदमत के लिए. (बाब दूसरा, सीन छठा)

[84] हश्र, बेताब और कथावाचक ने हिंदी में मुख्यत: पौराणिक और हिंदू पुनरुत्थानवादी नाटक ही लिखे. हश्र ने *बिल्वमंगल, गंगावतरण, बनदेवी, सीता बनवास, माधो मुरली, श्रवण कुमार;* बेताब ने *महाभारत, रामायण, पत्नी प्रताप, कृष्ण सुदामा, गणेश जन्म, सीता वनवास, शकुंतला* लिखा और कथावाचक ने *वीर अभिमन्यु, कृष्णावतार, रुक्मिणी मंगल, श्रवण कुमार, ईश्वर, द्रोपदी स्वंयवर, भक्त प्रहलाद* लिखा. इन पौराणिक नाटकों से पारसी रंगमंच को व्यापक दर्शक वर्ग मिला. हिंदू समाज इस ओर आकर्षित हुआ. यद्यपि पारसी नाटकों की संरचना सर्वधर्म समभाव वाली थी इसलिए कथावाचक ने मशरिकी हूर भी लिखा था और बेताब ने अपने शुरुआती दौर में उर्दू के नाटक ही लिखे थे. लक्ष्मीनारायण लाल (1973) : 175,

[85] विद्यावती नम्र (1972) : 417.

[86] विद्यावती नम्र (1972) : 225.

इत्यादि के प्रभाव को स्वीकार किया है।[87] बेताब तो आर्य समाज के सम्पर्क में भी थे। इस दौर के पारसी नाटककारों को विश्लेषित करने का एक मुख्य संदर्भ नवजागरण भी है।

पारसी रंगमंच एक दूसरे ढंग से वही काम कर रहा था जो हिंदी की साहित्यिक मण्डलियाँ कर रही थी। यानी भाषा-प्रचार। हिंदी की साहित्यिक बिरादरी ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया, जबकि हिंदीभाषी जनता ने इस रंगमंच को अपनाया और इसको दर्शक की हैसियत से अपना उन्मुक्त सरंक्षण दिया।[88] कुछ सीमा तक राधेश्याम कथावाचक को स्वीकार किया गया क्योंकि वे उस हिंदी के सर्वाधिक निकट थे जो साहित्यिक मण्डलियों की थी। साथ ही इनके नाटकों में अश्लीलता का कोई स्थान नहीं था।[89] अश्लीलता को लेकर हिंदी साहित्य में व्यापक बहस हुई है। चारु गुप्ता ने अपनी कृति में इस दौर में हिंदी साहित्य में अश्लीलता के संदर्भ में हो रही बहस को अनेक संदर्भों में उजागर किया है। हालाँकि वे कहीं भी अश्लीलता को परिभाषित नहीं करतीं, लेकिन उनके विवेचन से स्पष्ट है कि इसका संदर्भ यौन-आचार और श्रृंगार के उन्मुक्त चित्रण से है। वे अश्लीलता के मानकों को गढ़ने में औपनिवेशिक प्रभाव देखती हैं जिससे निर्मित नवीन मानसिकता ने स्त्री के कामुक चित्रण और यौन संकेतों को नैतिकता विरोधी मान लिया था। पारसी रंगमंच एवं लोक-रंगमंच में यौन संकेत तो रहते ही थे, मंच पर स्त्रियाँ भी थीं और स्त्रियों के प्रदर्शन से इस नयी नैतिकता को ठेस लगती थी।[90]

राष्ट्रीय चेतना, समाज सुधार और परम्पराशील रंगमंच

हिंदी प्रदेश में परम्पराशील रंगमंच की विविध परम्परा मिलती है। उन सबके विश्लेषण की जगह हम नौटंकी और बिदेसिया (नाच) के उदाहरण से देख सकते हैं कि परम्पराशील रंगमंच अपने समय के बदलावों से कैसे प्रभावित होते हैं।

उत्तर भारत या हिंदी प्रदेश में नौटंकी की परम्परा का प्रचलन सबसे बड़े क्षेत्र में है। यह परम्परा आधुनिक रंगमंच और प्राचीन रंगमंच के बीच की कड़ी की तरह है। औपनिवेशिक परिवर्तनों का प्रभाव इस शैली पर भी पड़ा। पहले जहाँ नौटंकियाँ स्मृति/मौखिक रूप में प्रचलित थीं, प्रिंटिग प्रेस के आ जाने के बाद ये छपने लगीं। छप कर आ जाने के बाद इनका विस्तार हुआ, उन्हें पढ़ा जाने लगा और इन नाट्य-दलों के अलावा भी अन्य दल उन्हें खेलने लगे। आधुनिकता के दबाव से इस रंगमंच ने भी अपने स्वरूप में बदलाव किया और नये ज़माने के साथ क़दमताल करने की कोशिश की। रामनारायण अग्रवाल ने संगीत/नौटंकी के अपने विस्तृत अध्ययन में यह साबित भी किया है कि समय के साथ सांगीत परम्परा के स्वरूप में कैसे बदलाव हुआ, क्षेत्र विशेष के आधार पर कैसे इनका रूप संगठित हुआ और एक ही परम्परा के विभिन्न स्वरूप सामने आये जिन पर स्थान विशेष की छाप थी।[91] कैथरीन हेनसेन ने भी लिखा है कि 'नौटंकी ने अपने दर्शकों के आधुनिक मूल्यों को

---

[87] मधुरेश ने राधेश्याम कथावाचक पर लिखी एक किताब में एक अध्याय का शीर्षक ही दिया है 'नवजागरण की हवाएँ'. आगे वे कथावाचक की ऐतिहासिक भूमिका का अवलोकन करने के लिए तीन आधारों हिंदी भाषा, स्त्री-चिंता और स्वाधीनता की आकांक्षा का चयन करते हैं. मधुरेश (2010) : 58.

[88] लक्ष्मीनारायण लाल (1973) : 174.

[89] दशरथ ओझा (2008), *हिंदी नाटक : उद्भव और विकास,* राजपाल ऐंड संज़., दिल्ली : 260.

[90] चारु गुप्ता (2011), *सेक्शुअलिटी, ओब्सिनिटी, कम्युनिटी : वुमेन, मुस्लिम्स ऐंड द हिंदू पब्लिक इन कोलोनियल इण्डिया,* पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत : 34 :49. *रंग दस्तावेज़,* भाग एक के पारसी रंगमंच वाले खण्ड में देखा जा सकता है कि कैसे हिंदी के विद्वज्जनों द्वारा पारसी रंगमंच पर प्रहार किया गया है. पारसी रंगमंच बहुत कुछ कुरुचि का पोषक था लेकिन इसमें केवल यही नहीं था.

[91] रामनारायण अग्रवाल (1976), *सांगीत : एक लोक नाट्य परम्परा,* राजपाल ऐंड संज़., दिल्ली.

और रुचियों को आत्मसात् किया और मंच पर नये और पुराने के बीच के द्वंद्व को उभारा।'[92]

नौटंकी का कथा भण्डार बड़ा समृद्ध था। पौराणिक कथाएँ, लोक-मानस में प्रचलित लोक-गाथाएँ, नाथपंथियों और योगियों से संबंधित कथाएँ, विदेशी कथाओं के साथ साथ सामयिक सामाजिक कथाओं की प्रस्तुति भी नौटंकी के मंच पर की जाती थी।[93] इन प्रस्तुतियों के नज़रिये में समय के साथ बदलाव आया। पौराणिक गाथाओं, योगियों पर खेले जाने वाली नौटंकियों के बाद बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ऐतिहासिक घटनाओं और चरित्रों पर आधारित नौटंकियों का चलन बढ़ा । इन नाटकों में राजा पदच्युत होकर बदले हुए भेस में आम जनता के समान उसके बीच घूमता था। राजपुत्र और पुत्रियाँ जन्म के साथ ही संयोगवश या प्रयोजनवश राजमहल से दूर आम जनता के बीच पलते थे। इस तरह ये प्रस्तुतियाँ आम और ख़ास के बीच की आवाजाही दिखाती थीं। एक प्रश्नवाचकता भी थी कि कैसे कोई राजा और कोई ग़रीब बनता है? सुविधाओं और धन का समाज में वितरण कैसे होता है? वास्तव में कौन है जो राज्य करने के लिए ही बना है?[94] अंग्रेज़ी शासन के दौरान डाकुओं की कहानियाँ नौटंकी के स्टेज पर बहुत ही लोकप्रिय हुईं। ये डाकू सर्वहारा राजा की तरह व्यवहार करते थे जिनका काम धन का अन्यायपूर्ण संचय करने वालों से लूट कर ग़रीबों में बाँटना था। ये डाकू दमन का विरोध करते थे। डाकू बनने के पीछे कोई न कोई सामाजिक व्यवहार या घटना होती थी जो इन्हें डाकू बनने पर मजबूर करती थी। नैतिक और चारित्रिक रूप से ये पात्र अत्यंत दृढ़ थे और अक्सर समाज की अन्यायपूर्ण व्यवस्था पर प्रश्न उठाते थे। साथ ही जनता को यह उस रास्ते का अनुसरण करने से रोकते थे जिस पर वे स्वयं चल रहे थे।[95]

राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव नौटंकी विधा पर पड़ा और समकालीन घटनाओं पर भी और राष्ट्रीय नेताओं पर भी नौटंकियाँ बनाई गयीं। जलियाँवाला बाग की घटना पर ही *ज़ुल्मी डायर*[96] और *जलियाँवाला बाग* नौटंकी खेली गयी। इसके अलावा सुभाष चंद्र बोस, गाँधी, जवाहर लाल नेहरू इत्यादि नेताओं पर भी नौटंकियाँ लिखी गयीं। सेंसरशिप से बचने के लिए अप्रत्यक्ष तौर पर भी कुछ नौटंकियों में कथानक के माध्यम से सत्याग्रह और देशभक्ति की भावना को परिपुष्ट किया गया। त्रिमोहन लाल की नौटंकी *कौमी दिलेर* तथा हल्द्वानी निवासी कन्हैयालाल चतुर्वेदी के स्वाँग सांगीत *पिता-पुत्र अर्थात् प्रह्लाद का सत्यव्रत* में प्रह्लाद की कथा को गाँधी युग के साँचे में ढाल कर प्रस्तुत किया गया।[97] राष्ट्रीय भावनाएँ चित्रित करने के साथ-साथ उन्हें उद्वेलित भी किया जाता था। भारत छोड़ो आंदोलन के समय में कानपुर में *बहादुर लड़की उर्फ़ औरत का प्यार* नौटंकी में फूल बेचने वाली युवती ने जैसे ही एक अंग्रेज़ पुलिसकर्मी को मारा, सभा में तालियों की गड़गड़हाट हो गयी। किसी ने मौक़ा देख कर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ दो चार नारे लगा दिये। एकाएक सैकड़ों-हज़ारों लोग नारे लगाने लगे। शो बंद करने का आदेश हुआ और फिर जनता और पुलिसकर्मियों के बीच मुठभेड़ हुई।[98]

नौटंकी में औरतों की वीरांगना छवि का निर्माण समाज सुधार आंदोलन का ही फलितार्थ था।

---

[92] कैथरीन हेनसेन ने नौटंकी रूप पर विस्तृत अध्ययन किया है. कैथरीन हेनसेन (1992) *ग्राउंड्स फार प्ले : द नौटंकी थियेटर ऑफ़ नार्थ इण्डिया,* मनोहर, दिल्ली : 42.

[93] रामनारायण अग्रवाल (1976) : 173-175.

[94] हैन्सन (1992) : 118.

[95] हैन्सन (1992) : 139.

[96] हैन्सन (1992) : 134.

[97] अग्रवाल (1976) : 153.

[98] दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा (2010), *नौटंकी की मलिक्का गुलाब बाई,* पेंग्विन बुक्स, नयी दिल्ली : 95.

एक तरफ़ *महारानी पद्मिनी, वीरांगना वीरमति* जैसी नौटंकियों में शक्तिशाली स्त्री-छवि बनी, दूसरी तरफ़ *दुखिया विधवा* और *धूल का फूल* में उनकी यथार्थ सामाजिक स्थिति दिखाई गयी। आर्य समाज का भी प्रभाव नौटंकी पर था, हालाँकि आर्य समाज ने नौटंकी को अश्लील भी घोषित किया था।[99] श्रीकृष्ण पहलवान पर आर्य समाज का प्रभाव था। उनके कुछ सांगीत सीधे आर्य सांगीत समिति कानपुर से प्रकाशित हुए थे।[100]

सांगीत की भाषा सर्वसाधारण की भाषा थी। सांगीत लेखक ने दर्शक, अभिनेता, पात्र इत्यादि का ध्यान रख कर भाषा का निर्माण किया। क्षेत्रगत विविधता का भी इसमें अंश था। हिंदी क्षेत्र की विभिन्न लोकभाषाओं के साथ साथ उर्दू और हिंदी का इस्तेमाल था। किसी भाषागत शुद्धता पर ज़ोर नहीं था और बोलचाल के निकट की भाषा का प्रयोग होता था। कथानक भी भाषा का आधार था। जैसे, मुस्लिम कहानियों में उर्दू भाषा का प्रयोग होता था। इसी तरह पौराणिक कथानक में संस्कृत के निकट जाने की कोशिश होती थी।[101] इंदरमन, नत्थाराम शरमा गौड़, त्रिमोहन लाल, कृष्ण पहलवान, लखमीचंद, गुलाब बाई इत्यादि नौटंकी के प्रसिद्ध कलाकार थे। नौटंकी को समकालीन चेतना से युक्त करने में इनकी प्रमुख भूमिका थी।

बिहार में इसी काल में भिखारी ठाकुर ने एक परम्परागत नाट्य रूप नाच का परिष्कार कर उसे अपनी शैली में ढाला और नाट्य रचनाएँ कीं। इनके रंगमंच पर लीला नाट्य, विदापत नाच, कीर्तनिया, लौंडा नाच, यात्रा, नाचा, नौटंकी का प्रभाव पड़ा जिससे आवश्यकतानुसार सामग्री लेकर उन्होंने अपनी शैली बनाई जो उनके एक नाटक के आधार पर *बिदेसिया* के नाम से ख्यात हुई। भिखारी ठाकुर उस अवधारणा के प्रतिवादी उदाहरण हैं जो यह मान कर चलती है कि आधुनिक हिंदी रंगमंच जिस समय बन रहा था उस समय पारम्परिक रंगमंच जड़ हो गया था। नौटंकी के उदाहरण से हमने देखा कि किस तरह उसने समय के प्रवाह में अपने को बदला और समकालीनता से जोड़ा। साथ ही उन प्रश्नों को भी समेटा जो अत्यंत ज़रूरी थे तथा जिन्हें राष्ट्रीयता, आज़ादी, एकता इत्यादि प्रश्नों के समांतर छोटा मान लिया गया था। तिलक को 1895 में कांग्रेस के सम्मेलन में नेशनल सोशल कांफ्रेंस पर रोक लगानी पड़ी थी।[102] भीमराव आम्बेडकर उसी समय अपने प्रश्नों से समाज की परीक्षा लेते हुए जाति प्रथा का दंश उजागर कर रहे थे। पिछड़ी जाति में जन्मे भिखारी ठाकुर ने भी अपने नाटकों से समाज के अभिजात्य को चौंकाया और झकझोरा। साथ ही वह सवाल भी किया जो मुख्यधारा का रंगमंच नहीं कर पाया था। भिखारी ठाकुर ने लगभग दस नाटक लिखे और घूम-घूम कर उनका मंचन किया। उनके नाटकों में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र मिलता है। प्रवासी मजदूरों का रोज़गार की तलाश में प्रवसन, उनके वियोग में पत्नियों का विलाप और उस पर समाज की कुत्सित नज़र दर्शाते हुए उन्होंने *बहरा बहार अर्थात् बिदेसिया* नाटक लिखा। प्रवसन की समस्या आज भी भोजपुरी समाज का यथार्थ है और भिखारी ठाकुर के समय से कई गुना बढ़ गयी है। *भाई विरोध* में संयुक्त परिवार के बिखराव की कहानी दर्ज की गयी। *बेटी वियोग* में पैसा लेकर बेटी का बेमेल विवाह करने की समस्या दिखाई गयी जो उस समय के निर्धन निम्न जातीय समाज में प्रचलित थी। *कलियुग प्रेम* में नशाख़ोरी और वेश्यागमन का, *गंगा असनान* में घर के बुजुर्ग के प्रति निरादर का, *विधवा विलाप* में विधवा-समस्या उठाई गयी। तात्पर्य यह कि भिखारी ठाकुर के सभी नाटक किसी न किसी समस्या पर आधारित हैं। यह देख कर अचरज होता है कि भिखारी ठाकुर का नाटक *गबर घिचोर* बर्तोल्त ब्रेख़्त के नाटक

[99] गोविंद चातक, *हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास,* ग्यारहवाँ भाग : 312.

[100] हैन्सन (1992) : 110.

[101] अग्रवाल (1976) : 170.

[102] सुमित सरकार (2009) : 91.

काकेशियन चाक सर्किल से कितना मिलता-जुलता है। उनके नाटकों का मंचन गीत और नृत्य से युक्त शैली में होता था। भिखारी अपने दल के निर्देशक भी थे और अभिनेता भी। इस मायने में वे एक विरल प्रतिभा थे। समाज से जुड़ी समस्याओं की केंद्रीयता का एक कारण यह भी था कि भिखारी रोज़गार के लिए बंगाल में रहे थे। बंगाल उन दिनों सामाजिक उथल-पुथल और जागरूकता का केंद्र था। भिखारी इससे कैसे अछूते रह सकते थे। 'वे अपने ग्रामीण परिवेश से बाहर की दुनिया देखने निकले और नये विचारों के साथ शहर (कलकत्ता) से लौटे। लेकिन इन विचारों को उन्होंने अपने क्षेत्र की जनता के हिसाब से अनुकूलित किया।'[103] वैचारिक अंतर्वस्तु का एक स्रोत स्थानीय अनुभव था, अर्थात् कृषक समाज के भौतिक जीवन के ठोस अनुभव से और दूसरा बंगाल के समाज सुधार आंदोलनों से प्रभावित सुधार चाहने वाले मध्यवर्ग की आकांक्षाओं से लिया गया था।[104] चूँकि समाज-सुधार आंदोलनों का भी केंद्र नारी-समस्या ही थी इसलिए भिखारी के नाटकों के केंद्र में भी नारी है। सामंती समाज में हाशिये की सेवक जाति हो कर नारी की समस्या को उठाना समय से आगे की बात थी। इसीलिए भिखारी ठाकुर उस समाज की आँखों में खटके भी। उन पर हमले हुए। उन्हें नीचा दिखाया गया। लेकिन वे इन सबके बीच अपनी कला जन-जन तक पहुँचाते रहे। चूँकि साहित्यिक रंगमंच पारम्परिक रंगमंच से दूरी बना कर चल रहा था इसलिए भिखारी ठाकुर को भी मुख्यधारा के रंगमंच से बाहर समझा गया। वैसे भी भिखारी ठाकुर एक जन-भाषा में नाटक कर रहे थे। भोजपुरी जैसी बोली मे जिसे हिंदी के सामने आत्मसमर्पण कर देना पड़ा था। भिखारी आधुनिक अर्थों में शिक्षित नहीं थे जो अपनी कला को आधुनिक मूल्यों के आधार पर परिष्कृत कर पाते। ऊँची नाक वाले उनकी कला में दोष सूँघते रहे और भिखारी अपना नाटक करते रहे।

नौटंकी और बिदेसिया के उदाहरण से ज़ाहिर है कि परम्पराशील रंगमंच जड़ और नाटकत्वविहीन नहीं था। हिंदी का साहित्यिक रंगमंच जिस राष्ट्रीयता के प्रसार और समाज-सुधार के उद्देश्य से परिचालित हो रहा था पारम्परिक रंगमंच भी प्रकारांतर से यही कर रहा था। वह एक क़दम आगे बढ़ कर समाज के भीतर के उन सवालों को भी उठा रहा था जिसे साहित्यिक रंगमंच ने नहीं छुआ था। इसका भाषिक स्वरूप अलग था और आधुनिक हिंदी के अनुसार यह बोलियों का रंगमंच था। उस समय हिंदी को मुख्यधारा की भाषा और सरकारी भाषा बनाने के लिए आंदोलन चल रहा था। अत: बोलियों के रंगमंच को जगह देना इसके लिए मुफ़ीद नहीं था। यह व्यापक समझ थी कि एक हिंदी होनी चाहिए और हिंदी की दुनिया के भीतर की भाषागत बहुलता को जगह देने से हिंदी की जातीयता के निर्माण की परियोजना में बाधा पड़ सकती है।

पारम्परिक रंगमंच को नागर वर्ग ने नहीं सराहा। इसके कुछ और भी कारण हो सकते हैं। जैसे कि यह उस भाषा में नहीं था जो साहित्यिक वर्ग द्वारा निर्मित की जा रही थी। युरोपीय और संस्कृत रंगमंच के समान यह उतनी नियमबद्धता का पालन नहीं करता था। इसके पाठ स्थिर नहीं थे। स्थिति और दर्शक के मुताबिक़ इनमें बदलाव कर लिया जाता था। नाटकीय संरचना में भी ख़ुलापन था। प्रदर्शन शैली में एकरूपता भी नहीं थी। साथ ही समाज के उन मनोभावों का खुला चित्रण होता था जिसे अभिजात-मध्यवर्गीय समाज वर्जित और अश्लील मानता था। इसलिए मध्यवर्गीय सौंदर्यबोध की कसौटी पर यह खरा नहीं उतर सका। इस रंगमंच के कलाकार समाज के निम्न वर्ग से आते थे और समाज अभी इनके प्रति इतना उदार नहीं हुआ था। उनके चरित्र को भी अच्छा नहीं समझा जाता था। इन सबके साथ यह भी था कि व्यावसायिकता के दबाव में इन लोकरूपों में निरंतर गिरावट भी

---

[103] चंद्रशेखर (2011), *लोकप्रिय संस्कृति का द्वंद्वात्मक समाजशास्त्र : संदर्भ-बिदेसिया,* सांस्कृतिक संकुल, जन संस्कृति मंच : 29.

[104] चंद्रशेखर (2011) : 41.

जारी थी। इस प्रक्रिया में मध्यवर्गीय जन-क्षेत्र द्वारा ग्राम्य और लोकजीवन की संस्कृति को पतनशील और भ्रष्ट मान लिया गया, क्योंकि उसमें लोकजीवन का खुलापन था। शृंगारिकता के साथ, प्रेम और यौन का खुला चित्रण होता था। ऐसे रूपों को सराहना इस मध्यवर्ग के लिए मुश्किल था।

आधुनिक हिंदी रंगमंच : जड़ता के मुख्य कारण

नेमिचंद्र जैन ने लिखा है कि 'उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जो नया रंगकर्म हमारे देश में शुरू हुआ वह पूरी तरह पश्चिमी रंगकर्म की नक़ल था। उसे अपनाने वाला हमारे देश का वह अभिजात वर्ग था जिसने अंग्रेज़ों की राजनीतिक प्रभुता ही नहीं सामाजिक-सांस्कृतिक श्रेष्ठता भी पूरी तरह स्वीकार कर ली थी। यह वर्ग नयी अंग्रेज़ी शिक्षा पाकर शासकों जैसा ही आचरण करने में गौरव अनुभव करता था। इसलिए उसने पहले अंग्रेज़ी नाटक अंग्रेज़ी में, फिर उनके अनुवाद या भारतीय रूपांतर अपनी भाषाओं में खेलने शुरू किये और अंततः उनकी नक़ल पर ही भारतीय कथानकों पर नये नाटक लिखे गये और खेले जाने लगे।'[105]

उपनिवेशवादियों के भारत में आने के साथ ही भारतीय अभिजनों ने उनकी शिक्षा पा कर अपनी भूमिकाओं की नयी तलाश की। इस भूमिका की तलाश उन्हें अनुकरण या मिमिक्री तक ले गयी। होमी भाभा ने औपनिवेशिक अनुकरण की इस प्रवृति का व्यापक विश्लेषण किया है। वे इस अनुकरण को एक सुधरी हुई पहचान बनाने की इच्छा बताते हैं।[106] आशिस नंदी लिखते हैं कि 'उपनिवेश ने मस्तिष्क और शरीर को इसकी लत लगाई और इसने औपनिवेशिक समाज के भीतर ऐसे प्रभाव पैदा किये जिन्होंने सभी सांस्कृतिक प्राथमिकताओं को बदल दिया। इस प्रक्रिया ने आधुनिक पश्चिम के विचार का एक भौगोलिक और स्थायी अस्तित्व से मानसिक श्रेणी में सामान्यीकरण कर दिया। अब पश्चिम हर जगह था, पश्चिम में और बाहर, संरचना में और मस्तिष्क में।'[107] इस पश्चिम ने वे सारी दृष्टियाँ विकसित कीं जिसमें लोक और परम्परा को पिछड़ा हुआ मान लिया गया। हीन भावना से ग्रस्त होकर हर चीज़ को पश्चिमी मानदण्ड पर कसा गया और एक सुधरी हुई पहचान बनाने की कोशिश आरम्भ हुई। यह हीन भावना ही वह कारण रही होगी जिससे पारम्परिक रंगमंच से दूरी बनाई गयी। इस रंगमंच का परिचय प्राप्त कर इसके स्वरूप में परिष्कार की कोशिश नहीं हुई। कालांतर में जब हिंदी रंगमंच का इतिहास लिखा गया तो उसमें भी इस रंगमंच को अपेक्षित स्थान न मिला। आलोचना जगत में भी इसे स्थान न मिला। व्यवस्थित तौर पर अध्ययन के व्यक्तिगत प्रयास भी बहुत बाद में हुए। लेकिन इस उपेक्षा के बावजूद वह अपनी गति से चलता रहा। उसे लोक-संस्कृति और व्यापक जनसमुदाय से पोषण और संरक्षण मिल रहा।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिंदी प्रदेश में ऐसे मुखर मध्यवर्गीय साहित्यिक जन-क्षेत्र का निर्माण हो रहा था जिसकी कोशिश अपने लिए एक समग्र पहचान निर्मित करने की थी। इस दौर में सार्वजनिक संस्थानों, पुस्तकालयों और प्रिंट संस्कृति का तेज़ी से विकास हुआ। साथ ही प्रकाशन गृहों, प्रेस, अख़बार और किताबों की संख्या में भी वृद्धि हुई। इस काल में *सरस्वती, अभ्युदय, चाँद* जैसी पत्रिकाओं, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, हिंदी साहित्य सम्मेलन जैसे संस्थान भी सामने आये जिनका प्रभाव व्यापक था। इस काल में गद्य में ज़्यादा रचना होने लगी और हिंदी भाषा को हिंदू धर्म से जोड़ कर देखा जाने लगा। हिंदी साहित्य को राष्ट्र, सभ्यता और गर्व के साथ जोड़ दिया गया। शृंगारिकता और अश्लीलता बहुत

---

105 नेमिचंद्र जैन (1996), *रंग परम्परा : भारतीय नाट्य में निरंतरता और बदलाव,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली : 56

106 होमी भाभा (1994), *लोकेशन ऑफ़ कल्चर,* रुटलेज, लंदन : 86.

107 आशिस नंदी (1983), द *इंटीमेट एनेमी,* परिचय खण्ड, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 11.

कुछ युरोपियन मानकों पर परिभाषित की गयी। भाषा या साहित्यिक कृति में ऐसे किसी भी संकेत को भाषिक स्तर गिराने वाला समझा गया। इन्हें पतनशील, स्त्रैण और असभ्य संस्कृति का परिचायक मान लिया गया। नयी आधुनिकता के निर्माण के लिए परम्परा को पुन:परिभाषित किया गया।[108] इसके मुताबिक़ ही आधुनिक कला रूपों का निर्माण हुआ। इसी प्रक्रिया में हिंदी के साहित्यिक रंगमंच को हिंदी क्षेत्र की उस ज़मीन में निर्मित किया गया जहाँ इसकी जड़ें नहीं थीं। इसे लगभग एक सांस्कृतिक शून्य में निर्मित किया गया था। यह जनता की भाषा में न होकर एक ऐसी भाषा में था जिसे राजनीतिक आकांक्षाओं के निमित्त निर्मित किया जा रहा था। इसके द्वारा निर्मित सौंदर्यबोध का आस्वादान करने में जनता अभी सक्षम नहीं थी क्योंकि अशिक्षा व्यापक पैमाने पर थी। उस जनता के लिए उनकी अभिरुचि का रंगमंच मौजूद था जिसे वह संरक्षण दे रही थी। पारसी रंगमंच, नौटंकी और नाच की लोकप्रियता इसका प्रमाण है। साहित्यिक रंगमंच ने न इन रूपों के क़रीब जाने की कोशिश की और न ही उसने जनता के। राधेश्याम कथावाचक ने हिंदी साहित्य सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन में रंगमंच के विकास में विघ्न के चार कारणों में से एक सरल हिंदी को विशेष आदर की दृष्टि से न देखना और दूसरा विद्वज्जनों का नाटक कम्पनीवालों के सम्पर्क में न रहना माना है।[109]

साहित्यिक रंगमंच शहरों में पनपा और अपना मध्यवर्गीय स्वरूप बनाए रहा। इसका दर्शक वर्ग भी मध्यवर्ग ही था। अपनी बात अभिव्यक्त करने के लिए रंगमंच जैसे लोकप्रिय माध्यम को इन्होंने अपनाया लेकिन भाषा, रूप, शैली किसी भी तरह से इसे व्यापक लोक तक पहुँचाने की उतनी कोशिश नहीं की जितनी पारसी और पारम्परिक रंगमंच से दूर रखने की कोशिश की। इस तथ्य की भी उपेक्षा कर दी गयी कि पारम्परिक रंगमंच की कुछ विशेषताओं को शामिल करते ही पारसी रंगमंच को एक व्यापक दर्शक समूह मिला था। पारम्परिक रंगमंच को हीन भावना से देखा गया और इसे जानने और समझने की कोशिश भी इस दौर में कम हुई। इस प्रक्रिया में आधुनिक हिंदी रंगमंच को उसका व्यापक लोक नहीं मिला क्योंकि उसे एक अजनबी भाषा के कलारूप को समझने की मेहनत करने के बजाय अपनी भाषा और परिचित शैली में अधिक रुचि ली। लोकप्रिय माध्यम से लोक ही विस्थापित हो गया और आधुनिक रंगमंच शहरी, मध्यवर्गीय और एक प्रकार से अभिजात निर्मिति बन गया। यह मुख्यधारा के रंगमंच के तौर पर स्थापित हुई, पारम्परिक रंगमंच हाशिये पर रही और पारसी रंगमंच सिनेमा के आने के बाद सिनेमा में ही समाहित हो गया।

अपने ही समकालीन अन्य नाट्यरूपों के साथ संवादहीनता में ही आधुनिक हिंदी रंगमंच के अपेक्षित विकास नहीं होने के कारण छिपे हैं। क्योंकि दर्शक जो रंगमंच का मुख्य घटक है वह व्यापक तौर पर आधुनिक रंगमंच को कभी नहीं मिला। और इसे सीमित दायरे से निकालने की कोशिश भी नहीं हुई। नवीन सौंदर्यबोध और उच्च संस्कृति के निर्माण की कोशिशों ने आधुनिक हिंदी रंगमंच से उसके लोक को विस्थापित कर दिया। यदि सौंदर्यबोध की कसौटी को भारतीय लोक रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में निर्मित किया जाता, एकरूपता का आग्रह नहीं होता, भाषाई बहुलता का समावेश किया जाता और आधुनिक शिक्षितों द्वारा पहल करके इन रंगमंचों यानी पारसी और परम्पराशील रंगमंचों से संवाद स्थापित किया जाता तो हिंदी रंगमंच का इतिहास कुछ और होता। आज़ादी से कुछ वर्ष पूर्व इस मंच के क़रीब जाने की आवश्यकता इप्टा ने समझी। इप्टा ने यह समझा कि रंगमंच को व्यापक जनसमुदाय तक पहुँचाने के लिए इसे उनकी ही अभिव्यक्तियों से जोड़ना आवश्यक है। साथ ही, राजनीतिक के साथ साथ सांस्कृतिक संघर्ष भी आवश्यक है और इसके लिए जन समुदाय को यथार्थ के सवालों से परिचय ऐसी भाषा में कराना चाहिए जो उन्हें समझ आये। यही बेचैनी उन्हें भारतीय पारम्परिक रूपों तक ले गयी और उन्होंने इनके कुछ प्रयोक्ताओं को भी इप्टा में शामिल किया। इससे

[108] चारु गुप्ता (2011) : 39-40.

[109] राधेश्याम कथावाचक (1922) : 151.

इप्टा को एक व्यापक अखिल भारतीय स्वरूप मिला और यह शहरों से निकलकर क़स्बों, गाँवों की ओर उन्मुख हुई।

संदर्भ

आलोक राय (2000), *हिंदी नैशनलिज़म,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

आशिस नंदी (1983), *द इंटीमेट एनेमी,* परिचय खण्ड, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

कथावाचक (2004) : 166.

क्रिस्टोफर आर. किंग (1994), *वन लैंग्वेज टू स्क्रिप्ट्स : द हिंदी मूवमेंट इन नाइंटीथ सेंचुरी नार्थ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

के.एम. पणिक्कर (2007), *कोलोनियलिज़म : कल्चर ऐंड रेज़िस्टेंस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

कैथरिन हैन्सन (1989), द *बर्थ ऑफ़ ड्रामा इन बनारस,* सैंड्रिया बी. फ्रेटेग (सम्पा.), *कल्चर ऐंड पॉवर इन बनारस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

कैथरीन हेनसेन (1992) *ग्राउंड्स फ़ॉर प्ले : द नौटंकी थियेटर ऑफ़ नार्थ इण्डिया,* मनोहर, दिल्ली.

चंद्रशेखर (2011), *लोकप्रिय संस्कृति का द्वंद्वात्मक समाजशास्त्र : संदर्भ-बिदेसिया,* सांस्कृतिक संकुल, जन संस्कृति मंच.

चारु गुप्ता (2011), *सेक्शुअलिटी, ओब्सिनिटी, कम्युनिटी : वुमॅन, मुस्लिम्स ऐंड द हिंदू पब्लिक इन कोलोनियल इण्डिया,* पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत.

जयशंकर प्रसाद (1923), 'हिंदी में नाटक का स्थान', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग 1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

जयशंकर प्रसाद (1937) (क), 'रंगमंच', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग-1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

जगदीशचंद्र माथुर (1956), *हिंदी ड्रामा, इण्डियन ड्रामा इन रेट्रोस्पेक्ट,* संगीत नाटक अकादमी, होप इण्डिया पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.

तुलसीदास शैदा (1928), 'नाट्याचार्य तुलसीदास शैदा से बातचीत', महेश आनंद (2007) (सम्पा.), *रंग दस्तावेज़,* भाग 1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

दशरथ ओझा (2008), *हिंदी नाटक : उद्‌भव और विकास,* राजपाल ऐंड संज़.,, दिल्ली.

दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा (2010), *नौटंकी की मलिल्का गुलाब बाई,* पेंग्विन बुक्स, नयी दिल्ली.

नंदी भाटिया (2004), *एक्ट्स ऑफ़ अथॉरिटी / एक्ट्स ऑफ़ रेज़िस्टेंस; थियेटर ऐंड पॉलिटिक्स इन कोलोनियल ऐंड पोस्टकोलोनियल इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

नेमिचंद्र जैन (1996), *रंग परम्परा : भारतीय नाट्य में निरंतरता और बदलाव,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

पण्डित नारायण प्रसाद बेताब (1937), *बेताब चरित,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

पार्थ चटर्जी (1993), द *नेशन ऐंड इट्स फ्रैग्मेंट्स : कोलोनियल ऐंड पोस्टकोलोनियल हिस्ट्रीज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

प्रेमचंद (1913), 'भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग-2, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन (1881), 'दृश्य-रूपक अथवा नाटक', महेश आनंद (सम्पा.)(2007) *रंग दस्तावेज़* भाग-1. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय नयी दिल्ली.

बेनेडिक्ट ऐंडरसन (1983), *इमैजिंड कम्युनिटी : रिफ़्लेक्शंस ऑन द ऑरिजिन ऐंड स्प्रेड ऑफ़ नैशनलिज़म,* वर्सो, लंदन.

भारतेंदु हरिश्चंद्र (1883), 'नाटक अथवा दृश्य काव्य', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग-एक, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय .

भारतेंदु हरिश्चंद्र (2004) *भारत दुर्दशा : संवेदना और शिल्प,* सिद्धनाथ कुमार (सम्पा.), अनुपम प्रकाशन, पटना.

भारतेंदु हरिश्चंद्र (2005), *अँधेर नगरी* , सिद्धनाथ कुमार, वही.

मधुरेश (2010), *राधेश्याम कथावाचक,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

महेश आनंद (1978), 'भारतेंदुयुगीन हिंदी रंगमंच', नेमिचंद्र जैन (सम्पा.), *आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच,* मैकमिलन, नयी दिल्ली.

महेश आनंद (2003), 'नाटककार की भूमिका : जयशंकर प्रसाद', *रंग प्रसंग,* वर्ष 6, अंक 1 जून, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग 1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

महेश आनंद (2007), 'नाट्य प्रदर्शन अधिनियम 1876 और रंगमंच', महेश आनंद (सम्पा.), रंग दस्तावेज़, भाग-2, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

महेश आनंद (2010), 'रंग चित्रावली', *रंग प्रसंग,* वर्ष 13, अंक 1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

राधेश्याम कथावाचक (2004), *मेरा नाटककाल,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

रामचंद्र शुक्ल (2010), *हिंदी साहित्य का इतिहास,* लोकभारती, इलाहाबाद.

रामविलास शर्मा (2004), *भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

रामनारायण अग्रवाल (1976), *सांगीत : एक लोक नाट्य परम्परा,* राजपाल ऐंड संज़., दिल्ली.

लक्ष्मीकांत भट्ट (1928), 'हिंदी नाट्य जगत', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 275.

पण्डित राधेश्याम कथावाचक (1922), 'वर्तमान नाटक तथा बायस्कोप कम्पनियों द्वारा हिंदी प्रचार', महेश आनंद (सम्पा.) (2007), *रंग दस्तावेज़,* भाग-1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

लक्ष्मीनारायण लाल (1973), *पारसी हिंदी रंगमंच,* केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नयी दिल्ली.

वसुधा डालमिया (2010), *द नैशनलाइजेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशंस,* पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत.

विद्यावती नम्र (1972), *हिंदी रंगमंच और पं. नारायण प्रसाद बेताब,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.

शांता गोखले (2000), *प्लेराइट एट द सेंटर,* सीगल बुक्स, कोलकाता.

सुधीर चंद्र (1992), द *आप्रेसिव प्रज़ेंट : लिटरेचर ऐंड सोशल कांशसनेस इन कोलोनियल इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सुदीप्त कविराज (2005), 'ऐन आउटलाइन ऑफ़ अ रिवीज़निस्ट थियरी ऑफ़ मार्डनिटी', *आर्काइव्ज़ ऑफ़ युरोपियन सोसियोलॅजी,* XLVI, 3 : 517.

सुदीप्त चटर्जी (2007), द *कोलिनियल स्टेज़्ड; थियेटर इन कोलोनियल कैलकटा,* सीगल बुक्स, कोलकाता.

सुमित सरकार (2009), *आधुनिक भारत* (अनु. सुशीला डोभाल), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

होमी भाभा (1994), *लोकेशन ऑफ़ कल्चर,* रुटलेज, लंदन.

हेमेंद्र नाथ दासगुप्ता (1955), *द इण्डियन स्टेज,* मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली.

ज्ञानचंद जैन (1981), 'हिंदी रंगमंच को पं. माधव शुक्ल की देन', *छायानट,* अंक 18.

हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारणी सभा, खण्ड 9.